वंदे वीरम्

लेखक—

जैन-दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पंडित मुनि

श्री चौथमलजी महाराज

प्रकाशिका—

श्रीमती गंगादेवी जैन

फर्म गुलाबसिंह कोकनमल जौहरी

मालीवाड़ा, देहली.

प्रथम संस्करण १०००	सप्रेम उपहार	वीर संवत् २४६४ वि० संवत् १९९५

प्रकाशिका—
श्रीमती गंगादेवी जैन,
देहली ।

मुद्रक—
गयादत्त शर्मा,
मैनेजर "गयादत्त प्रेस"
बाग दिवार, देहली.

प्रस्तावना

पार्श्वनाथ जी जैन धर्म के आदि प्रचारक नहीं थे । परन्तु इसका प्रचार ऋषभदेवजी ने किया था, इसकी पुष्टि के प्रमाणों का अभाव नहीं है।

—वरदकान्त मुखोपाध्याय, एम. ए.

ऐतिहासिक गवेषणा से मालूम हुआ है, कि जैन धर्म की उत्पत्ति का कोई काल निश्चित नहीं है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैनधर्म का हवाला मिलता है। श्री पार्श्वनाथजी जैनों के तेईसवें तीर्थंकर है। इनका समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है।

—कन्नोमल एम. ए.

उल्लिखित दो अजैन विद्वानों के ऐतिहासिक अन्वेषण के वाद किये गये निर्णय से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह, कि भगवान् पार्श्वनाथ ने जैन धर्म की स्थापना नही की थी, वरन् उनसे पहले बाईस तीर्थंकर जैन धर्म के प्रचारक हो चुके थे । दूसरी यह, कि जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है और जहाँ कही दृष्टि फेकी जाय, वहीं जैन धर्म के विद्यमान होने के प्रमाण मौजूद हैं। अतः यह नही कहा जा सकता, कि जैन धर्म की स्थापना अमुक समय में हुई है।

उल्लिखित विद्वानों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक इतिहास-वेत्ता जैन और अजैन विद्वानो ने जैनधर्म की प्राचीनता के संबंध

से ऐसा ही कहा है। महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्या-भूषण एम. ए पी एच. डी कहते हैं—"जैनधर्म तब से प्रचलित हुआ है जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है।" सनातन धर्म के धुरंधर अग्रगण्य विद्वान स. म पं० राममिश्र स्वामी शास्त्री ने भी विद्याभूषणजी के ही शब्दो मे-जैनधर्म की प्राचीनता का प्रतिपादन किया है। संसार के सब से प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद मे बाईसवे तीर्थंकर अरिष्ट नेमि तक का उल्लेख मिलना स्पष्ट करता है, कि ऋग्वेद से पहले ही बाईस तीर्थंकर जैनधर्म के प्रचारक हो चुके थे। ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ का तो अनेक स्थलों पर उल्लेख पाया जाता है।

इस प्रकार न केवल जैन साहित्य के प्रमाणो से बल्कि निष्पक्ष अजैन पण्डितो की गवेषणाओं से जैन तीर्थंकरो का अस्तित्व प्रमाणित है। यह तीर्थंकर आधुनिक काल के चौबीस तीर्थंकर है। भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवे तीर्थंकर हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इन्हीं महानुभाव का पावन चरित है।

प्रत्येक धर्म की एक मूल प्रकृत्ति होती है और उस धर्म के समस्त वर्णनों मे वह व्यक्त या अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान रहती है। जैनधर्म की भी मूल प्रकृत्ति है और क्या प्रस्तुत चरित्र और क्या दूसरा कथा भाग, सब उसी प्रकृति के अनुसार परिचालित होता है। यही कारण है, कि प्रस्तुत चरित मे त्याग, वैराग्य की मुख्यता पाई जाती है। क्योकि जैनधर्म स्वभावतः त्याग वैराग्य की ओर ही झुकता है।

साहित्य और इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा जान पड़ता है, कि भ०पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईसा से १२०० वर्ष पहले वैदिक परम्परा की छत्र-छाया मे तापसो की संख्या अत्य-

विक थी और समाज पर भी उनका बड़ा प्रभाव था। ये तापस प्राय: अरण्यवासी होते थे और कायक्लेश सहना इनका मुख्य अनुष्ठान था। कई लोग सांसारिक क्लेशो से ऊब कर तापस-आश्रमो का आश्रय लेते थे और कई अपना कर्त्तव्य समझ कर तापस-दीक्षा अंगीकार करते थे। इन के अनुष्ठान मे अग्नि का प्रमुख भाग था। पंचाग्नि तप तपना इनका प्रधान आचार था। अनशन आदि वाह्य तप भी यह किया करते थे। समाज के सभी श्रेणियो के मनुष्य इनके उपासक थे।

आत्मिक विकारों को दूर करने के लिए इन्द्रियों और मन को जीत लेने की आवश्यकता तो है और इस के लिए शारीरिक कष्ट सहन करना वाह्य तपश्चरण करना भी उपयोगी है, पर यह स्मरण रखना चाहिए, कि वाह्यतप आध्यात्मिक तपस्या का साधन मात्र है। उसका उतना ही मूल्य है, जितना वह आत्मसाधना मे सहायता पहुँचाता है। जिस वाह्य तप से आध्यात्मिक निर्मलता की प्राप्ति विल्कुल न होती हो वह वाह्य तप विलकुल व्यर्थ है। इसके विपरीत जो वाह्य तपश्चरण इन्द्रियजय आदि के द्वारा आत्मिक शुद्धि मे सहायता पहुँचाता है, वह उपादेय है। जैसे शरीर का मैल, वस्त्र धोने से नहीं छूटता, उसी प्रकार आत्मा का मैल शरीर की तपस्या से नही छूटता है।

आत्मा के उद्धार के उपदेश से किया जाने वाला यह अनुष्ठान भ्रान्त है यह निर्विवाद है। उस समय की जनता प्राय: इस भ्रम का शिकार हो रही थी। भगवान् पार्श्वनाथ ने अमावस्या की रात्रि से पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उदित होकर इस भ्रम-तम का निवारण किया था। उन्होंने वतलाया, कि आत्म-स्पर्शी अनुष्ठानो से ही आत्मा का उद्धार सम्भव है। पर गृहस्थ

अवस्था मे रहते हुए वे अपने जीवनोद्देश को प्राप्त नहीं कर सकते थे। अतएव उन्होंने भरी जवानी मे संसार के भोग विलासो को ठुकरा दिया और जंगलकी राह ली। तपस्वी जीवन मे उन्हे अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे अपने पथ पर अविचल रहे और जब साधना के फल स्वरूप सम्पूर्ण ज्ञान की उन्हें प्राप्ति हो गई तब पूर्ण योग्य बन कर उन्होंने फैले हुए भ्रमो का निराकरण कर जनता को सच्चा कल्याण-पथ बताया। इसके पश्चात् वे अपने महान् 'अहिंसा धर्म' का प्रचार करने के लिए जगह-जगह विचरे और जीवों के सामने एक नया प्रकाश फैला दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन, आदि से अन्त तक शान्ति, सन्तोष, दया और क्षमा का एक उज्ज्वल पाठ है। कुशस्थल के रण स्थल को उन्होने अपनी राजनैतिक चतुराई के द्वारा अहिंसा और शान्ति के सदुद्देश से कुशस्थल मे सहसा परिवर्तित कर दिया था। जलते हुए सर्प-सर्पिणी के युगल पर उन्होंने दया की सुधा-धारा प्रवाहित की और प्राण-संकट-जनक उपसर्ग करने वाले मेघमाली देव पर उन्होंने वही भाव बनाये रखा, जो धरणेन्द्र-अपने रक्षक-पर था। वास्तव मे भगवान् की लौकिक और लोकोत्तर विजय, जो उन्हें गृहस्थ जीवन और साधु जीवन मे प्राप्त हुई. आध्यात्मिक शक्ति पर अवलम्बित थी। उन्होंने लगातार अनेक पूर्ववर्ती भवों मे इस शक्ति का संचय किया था और अन्त के भव मे वह परिपूर्णता की सीमा को जा पहुँची थी। अत. भगवान् का जीवन, साधारण प्राणी के लिए भी उपादेय है, और पथभ्रष्ट के लिए पथ-प्रदीप है।

सचमुच ऐसे पावन चरित ही मानव-समाज की अक्षयनिधि है। यही अभ्युदय के कारण हैं और इन्हीं से मानव की पशुता

का विनाश होकर मानवता जागृत हो सकती है। अतएव ऐसे चरितों का पढ़ना, पढ़ाना और जीवन-व्यापार में प्रयुक्त करना आत्मनिष्ठ नर-नारी का परम कर्त्तव्य है।

कुछ वर्ष पहले विख्यात व्याख्याता विश्ववल्लभ मुनि श्री चौथमल जी महाराज ने भगवान् महावीर का विस्तृत जीवन चरित्र लिख कर साहित्य की उपयोगिता में वृद्धि की थी। अब उन्हीं मुनि श्री ने भगवान् पार्श्वनाथ का यह चरित्र प्रस्तुत कर जनता का अत्यधिक उपकार किया है। प्रस्तुत चरित्र मे अनेक विशेषताएँ है। पार्श्व चरित से परोक्ष रूप मे मिलने वाली सूचनाओं को सर्व साधारण जनता साफ़-साफ़ नही समझ सकती। उनके हित को सामने रख कर लेखक महानुभाव ने उन्हें खोल कर लिखा है और इतनी स्पष्टता तथा सरलता के साथ, कि साधारण-से-साधारण पाठक को भी न समझ सकने की शिकायत नही रह सकती। ऐसी शिक्षाएँ पाठकों को गृहस्थ जीवन मे अत्यन्त उपयोगी है और निवृत्त जीवन मे भी हितकर है।

वास्तव मे यह चरित संसार के तापों से संतप्त प्राणियों को शान्ति देने वाला एक लोकोत्तर उपवन है। इसमे जगह-जगह मनोमोहक, सुन्दर और कल्याण रूपी सुरभि से सुरभित उपदेश-सुमन खिले हुए दृष्टिगोचर होते हैं। कही तत्त्व चर्चा रूपी फौहारे चल रहे हैं। कही प्रश्नोत्तर रूप मे कुंज बने हैं। कहीं विपुल भाव रूपी तरुवर खड़े है। कहीं अवान्तर कथा रूप लताएँ छाई हुई हैं। त्याग-वैराग्य की शीतल और मंद वायु बह रही है। यह उद्यान शान्ति-लाभ का एक बढ़िया स्थल है।

भगवान् पार्श्वनाथ इस चरित के मुख्य नायक हैं। पर कमठ उनका मरुभूति के भव का भाई-भी सदा उपस्थित रहता है।

दोनों का चरित ३६ का-सा अंक है। एक आत्मा के उत्थान का साक्षात् निदर्शन करना है, दूसरा पतन की प्रतिमूर्ति है। पर जैनधर्म ऐसा पतित-पावन है, कि वह कमठ जैसे पापी को भी अंत में देव बना देता है। साथ-साथ चलने वाले दोनों चरित्रों से आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को तुलना की बडी अच्छी सामग्री मिलती है। इस चरित की यह असाधारणता बेजोड़ है और इससे इसका स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है।

इस सुन्दर रचना के लिए मुनि श्री वास्तव मे धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है भविष्य मे उनकी और भी सुन्दर रचनाएँ जनता को पढ़ने का मौका मिलेगा।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल,

न्यायतीर्थ।
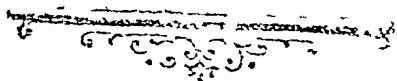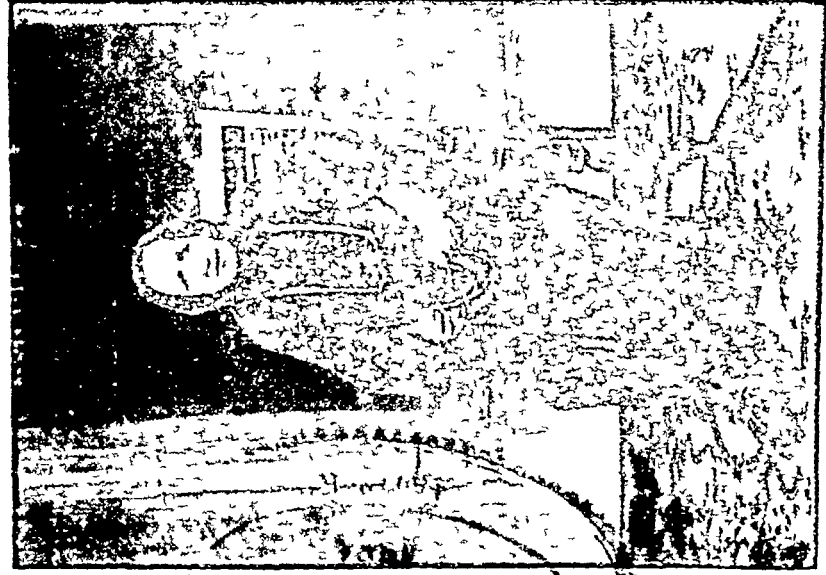
धर्मपरायणा श्रीमती गंगादेवी जैन,
मालीवाड़ा, देहली.
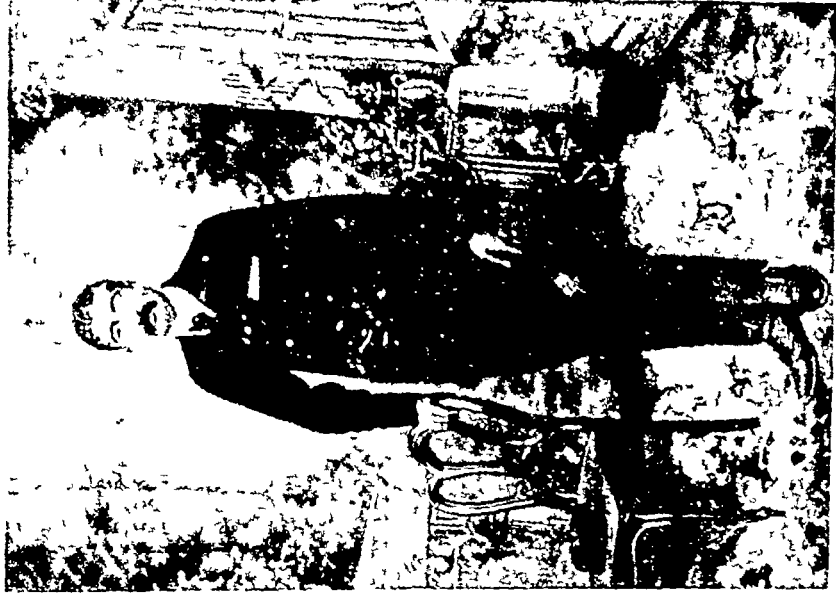
श्रीमती गंगादेवी के सुपुत्र स्वर्गीय लाला
जगन्नाथप्रसादजी जैन जौहरी, नैपाल।

वन्दे वीरम्

पार्श्वनाथ

पूर्व प्रसंग

जिण पासित्ति नामेण, अरहो लोगपूइओ ।
संबुद्धप्पा य सव्वणू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥

जैनधर्म के अनुसार मुक्त जीव वही होते हैं, जिन्होंने समस्त आत्मिक आवरणों से छुटकारा पा लिया है, जो निष्कर्मा और सर्वथा निर्विकार हैं। जो परम-आत्मा इस सर्वोच्च पदवी का अधिकारी हो जाता है, उसे जन्म-मरण की विविध कथाएँ सहन करने का कोई भी कारण विद्यमान नहीं रहता। अतएव मुक्त जीवों का संसार मे पुनरागमन जैनधर्म मे अभीष्ट नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ, जिनका पुण्य-चरित लिखने के लिए यह प्रयास किया जाता है, अनादिकालीन परमात्मा न थे। किन्तु अनेक जन्मों के अपने आध्यात्मिक प्रकृष्ट प्रयत्नों के द्वारा उन्होंने क्रमशः विकास करते हुए विकास की चरम सीमा प्राप्त की थी। भ० पार्श्वनाथ जैनधर्म सम्मत चौवीस तीर्थंकरों मे से तेईसवें तीर्थंकर थे। इनसे पहले श्री ऋषभदेव आदि नेमिनाथ पर्यन्त वाईस तीर्थंकर हो चुके थे। इनके बाद चौवीसवे तीर्थंकर श्री वर्द्धमान महावीर हुए है।

अब से कुछ दिनों पहले तक भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता मे इतिहासवेत्ता विद्वान संदेह प्रकट किया करते थे। किन्तु पुरातत्त्व और इतिहास संबंधी अधिक अन्वेषण से अब पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता, निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। भ० पार्श्वनाथ का जन्म महावीर स्वामी के निर्वाण से ४२२ वर्ष पूर्व हुआ था। यह बात भी निर्णीत हो चुकी है। फिर भी भ० पार्श्वनाथ के संबंध मे एक नया भ्रम उत्पन्न हो गया है। कुछ विद्वानों का यह मत है, कि भ० पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी एक ही धर्मतीर्थ के अन्तर्गत नहीं थे, दोनो के तीर्थ भिन्न-भिन्न थे। अतएव उनके विचार से पार्श्वनाथ का जैनधर्म से कुछ संबंध नहीं है। और जैनधर्म के संस्थापक भ०महावीर ही थे। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाने पर, यह जो नवीन भ्रान्त मत उत्पन्न हुआ है, इसे साहित्यिक रूप भी प्राप्त हो चुका है। इसके निराकरण की आवश्यकता है। अतः संक्षेप मे पहले हम यह निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे, कि भ० पार्श्वनाथ और महावीर एक ही तीर्थ के प्रवर्तक थे।

उल्लिखित मत के समर्थको की प्रधान युक्ति यह है, कि एक तीर्थ मे दो तीर्थंकर कभी नहीं हो सकते। पर ऐसा जान पड़ता है, कि यह तर्क तीर्थ शब्द के अर्थ संबंधी भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ है। तीर्थ शब्द श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी रूप चतुर्विध संघ के लिए भी प्रयुक्त होता है। और शासन के लिए भी। एक तीर्थंकर संघ की स्थापना करते है। कालान्तर मे वह संघ छिन्नभिन्न होजाता है। और अगले तीर्थंकर जब उत्पन्न होते है, तब उस संघ का पुनर्निर्माण करते है। इस प्रकार तात्त्विक सिद्धान्तों की समानता होने पर भी संघ की स्थापना के कारण

और कदाचित सामयिक भिन्नता से वाह्य आचार में किञ्चित विभिन्नता के कारण एक ही परम्परा में दो या अधिक तीर्थंकरों का होना अनुचित नही कहा जा सकता। अतः एक ही परम्परा में दो तीर्थंकर हो ही नहीं सकते, यह कथन भ्रमपूर्ण है। अस्तु। यदि भ० पार्श्वनाथ का धर्म भ० महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म से भिन्न होता, तो जैन संघ भ० पार्श्वनाथ को कदापि न अपनाता। और अन्यान्य धर्म-प्रवर्तकों की भाँति विधर्मी के रूप में ही उनका उल्लेख मिलता। जब कि भ० पार्श्वनाथ से भी पहले के मत-मतान्तरों का जिक्र पाया जाता है, तो उनके पृथक् मत का उल्लेख भी भारतीय साहित्य में होना चाहिए था। पर उनके नाम से कोई अलग मत, कहीं भी उल्लिखित नहीं मिलता, इससे भी यही सिद्ध होता है, कि उक्त दोनों तीर्थंकर एक ही परम्परा में हुए है। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित स० केशी और गौतम के संवाद को, भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के सिद्धान्तों मे भेद-दर्शक, मानना भी भ्रमपूर्ण है। जैन साहित्य मे स्थान स्थान पर प्रश्नोत्तर की शैली से विषय विवेचना की गई है। भ० महावीर और गणधर गौतम के भी प्रश्नोत्तर है। उनसे इन दोनों महानुभावों के मतभेद का निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। इसी प्रकार केशी-गौतम-संवाद से उक्त दोनों तीर्थंकरों के धर्म भेद की कल्पना करना भी निराधार है। अतएव यह निस्संदेह है, कि भगवान् महावीर से पूर्व भ० पार्श्वनाथ हुए, और दोनों की परंपरा एक थी।

भ० पार्श्वनाथ 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार पार्श्व ही नहीं,किन्तु पार्श्वनाथ हैं। पार्श्व और पार्श्वनाथमें अन्धकार-प्रकाश बराबर अन्तर है। पाषाण-पार्श्व लोहे को सोना भले ही बनादे,

किन्तु अपने समान पार्श्व नहीं बना सकता। जब कि पार्श्वनाथ की आन्तरिक भक्ति और आराधना करने वाले भव्य जीव स्वयं पार्श्वनाथ के समान बन जाते है। भ०पार्श्वनाथ की इस लोकोत्तर महिमा से आकृष्ट होकर उनका दिव्य चरित लिखने के बहाने उनका गुणगान करना लेखक का अभीष्ट है। शास्त्रों मे कहा गया है, कि परमोत्कृष्ट रूप से अरिहंतों का गुणगान करने वाला भव्य जीव भी अन्त मे तीर्थंकर पदवी का भागी होता है।

प्रत्येक आस्तिक दर्शन के अनुसार आत्मा अनादि-निधन है वह कर्म आदि वाह्य उपाधियों के जाल मे फँसकर, विभिन्न योनियों मे जन्मता मरता रहता है। आत्मा जब एक योनि से दूसरी मे जाता है, तो उसके साथ बहुत से पूर्वजन्म के संस्कार भी साथ जाते है। जैसे बहु-समय-साध्य कोई विशाल कार्य अनेक वर्षों में सम्पन्न होता है, उसी प्रकार आत्मा का चरम विकास भी अनेक जन्मों की साधना से सम्पन्न होता है। मुक्ति के लिये आत्मा अनेक जन्मों मे निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। और पूर्व जन्मों के सुन्दर संस्कारों के साथ उत्तरोत्तर जन्मों में उत्पन्न होकर उन संस्कारों को और अधिक श्रेष्ठ और उन्नत बनाता है। तब कहीं उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। मुक्ति की यह साधना तभी से आरंभ समझी जाती है जब जीव को एक बार आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। यद्यपि उसके बाद उसे आत्मिक विकारों के साथ लम्बा और घमासान युद्ध करना पड़ता है और कभी-कभी आत्मा पराजित भी होजाता है पर उसकी वह पराजय स्थायी नहीं होती। वह शक्ति सम्पन्न होते ही पुन अपने शत्रुओं पर आक्रमण करता और अन्त मे विजय श्री के साथ-साथ अनन्त आनन्दमयी मुक्तिश्री का भी वरण

करता है।

महापुरुषों के आदर्श चरित का अनुशीलन करते समय हमें उनके इस विकास क्रमकी ओर ध्यान देना चाहिये। इस क्रम को हम ठीक-ठीक तभी समझ सकते है जब कि उनके पूर्व जन्मों के चरित पर दृष्टि डाले। वर्तमान जीवन प्रायः उनकी साधना का नहीं किन्तु एक प्रकार से उनकी साधना के फल का जीवन है और इस जीवन मात्र से हमारा पथ प्रशस्त नही हो सकता। क्योंकि वर्तमान जीवन उनकी अंतिम मंजिल है और उसका भली भाँति महत्व समझनेके लिये उससे पूर्ववर्ती मंजिलों को समझना अनिवार्य है। यही कारण है कि जैन साहित्य में इस प्रकार के चरित पूर्व जन्मों के विवरण के साथ-साथ प्रस्तुत किये गये है।

पूर्व जन्मों का विवरण लिखने का एक प्रयोजन और भी है। महापुरुष और विशेषतया तीर्थंकर अपने पूर्ववर्ती अनेक जन्मो की कठोर साधना से वर्तमान अर्थात् तीर्थंकर जन्म मे अत्यन्त समुन्नत अवस्था मे उत्पन्न होते है। उनका आत्मिक विकास इतर सामान्य जनों की अपेक्षा अत्यधिक होता है। वे जन्म से ही विशिष्ट ज्ञान—अवधि—के धारक होते है। शारीरिक सम्पत्ति भी उनकी असाधारण होती है। यदि हम उनके सिर्फ वर्तमान जीवन का अध्ययन कर और पूर्व जन्मो की साधना के साथ उसका संबंध स्थापित न करे तो उनके जीवन से हम चकित तो हो जाएँगे किन्तु उनका अनुकरण करने की हिम्मत न कर सकेगे। उस अवस्था में उनमे और हममें जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई पड़ेगा। हम यह विचारने लगेंगे कि—भाई! उनमें जन्मते ही इतनी शक्ति है कि हम उनके सामने तुच्छ है। जो उनके समान शक्तिशाली हो वही उनका अनुकरण करे। किन्तु

यदि हम उनके पूर्व जन्मों के वर्णन के साथ—साथ वर्तमान जन्म का वर्णन पढ़ेगे तो यह सोचेगे कि–वाह ? तीर्थंकर भले ही इस जन्म मे असाधारण और अलौकिक शक्तियो से संपन्न है किन्तु पहले तो हम सरीखे ही थे । हम स्वयं उनकी-सी साधना करके उन शक्तियों के स्वामी वन सकते है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से ससारी जीव भी उनके चरित का अनुकरण कर सकेगा । अतः पूर्व जन्मों का विवरण देने से ही महापुरुषों का जीवन अनुकरणीय हो सकता है ।

पूर्व जन्मों के विवरण का तीसरा प्रयोजन सैद्धान्तिक है । अनेक मतावलम्बियो ने परमात्मा को एक और अनादि स्वीकार किया है। उनके मतके अनुसार साधारण जीवात्मा, परमात्म पद का कदापि अधिकारी नहीं है। उनकी इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए यह बतलाना आवश्यक समझा गया कि जो जीव कुछ भव पहले इतर संसारी प्राणियों के समान साधारण था वही आज शनै. शनै परमात्मा वन गया है। इसी प्रकार हम भी इस पद को प्राप्त कर सकते हैं।

उल्लिखित पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि महापुरुषो का अविकल परिपूर्ण साधना जीवन अंकित करने के लिए उनके पूर्व भवों का वर्णन अवश्य करना चाहिए। अतएव हम भी पहले भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भवो का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराएँगे और अन्त मे उनके तीर्थंकर जीवन को अंकित करने का प्रयास करेंगे ।

पार्श्वनाथ के पूर्व जन्म

पहला जन्म

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत में पोतनपुर नामक एक बड़ा ही सुन्दर नगर था। उसके बाजारों की छटा अनुपम थी। नगर के बाहर रमणीय बाग-बगीचों और सरोवरों के कारण चारों ओर का दृश्य अतिशय मनोहर और मोहक था। वह दर्शकों के चित्त को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था।

उस समय पोतनपुर के राज्य-सिंहासन पर 'अरविन्द' नामक एक प्रजाप्रिय नरेश सुशोभित थे। वे राजनीति के पूर्ण ज्ञाता थे और व्यवहार में भी उस नीति का प्रयोग करते थे। उनके शासन में किसी की क्या मजाल थी कि दूसरे को ऊँगली बता सके। राजा स्वयं धर्मनिष्ठ था और प्रजा भी 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्ति को चरितार्थ करती हुई धर्म परायणा थी। महाराज अरविन्द अपनी प्रजा को सन्तान के समान समझ कर यथासंभव सभी उचित उपायों से उसे सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने में सदा उद्यत रहते थे। प्रजा पर कर का असह्य भार न था। साम्राज्योपयोगी व्यय के लिए ही सामान्य कर लिया जाता था। जब राजा की ओर से किसी प्रकार का अनौचित्य न था तो प्रजा भी न्याय-संगत राज्य-कर को अपने आवश्यक व्यय में सम्मिलित समझती और प्रमाणिकता के साथ समय पर उसे चुका देती थी। राजा भी इतना प्रजापालक और न्याय परायण था कि प्रजा द्वारा प्राप्त उस कर के द्रव्य को अपने व्यक्तिगत भोगोपभोग के साधनों में खर्च न करता हुआ प्रजा की समृद्धि

के लिए ही व्यय करता था। शिक्षा, स्वास्थ्य, और सुरक्षा आदि प्रजोपयोगी कार्य उस कर से किये जाते थे। इस प्रकार उस समय राजा और प्रजा मे बड़ा ही मधुर संबंध था। राजा, प्रजा के पोषण के लिए है शोषण के लिए नहीं, यह सिद्धान्त उस समय आम तौर पर व्यवहार मे लाया जाता था।

महाराज अरविन्द के एक ही पत्नी थी। उसका नाम था धारिणी। महारानी धारिणी स्त्रियों के समस्त गुणों से सुशोभित थी। धर्मशीला, दयालु और उदार हृदया थी। दोनों एक दूसरे के सखा, सहायक और साथी थे।

महाराज अरविन्द के राज्य मे विश्वभूति नामक एक मुख्य राज पुरोहित रहता था। वह जैन धर्म का निश्चल श्रद्धानी श्रावक था। उसने श्रावक के बारह व्रतों को धारण किया था और साव- धानी से यथाविधि उनका पालन करता था। वह शास्त्रवेत्ता था और अध्यात्मवेत्ता भी था। वह अपने धर्म पर सदा निश्चल रहता था। आजीविका के उच्छेद का भय या और किसी प्रकार का भय उसे छू भी न गया था। यहां तक कि राज-भय भी उसे अपने स्वतंत्र विचारों से वंचित न कर सकता था। उसके धर्म और अपने सकल्प से च्युत करने की क्षमता किसी मे न थी। वास्तव मे पुरोहित दृढ़ धर्मी और प्रियधर्मी था। वह वर्तमान कालीन श्रावकों की भांति अनिश्चल, डरपोक या कातर न था, कि किसी के भय, लालच या रौब मे आकर धर्म-कर्म को तिलाञ्जली दे बैठे। आज तो यह स्थिति है कि प्रथम तो धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव ही नहीं होता और यदि होता भी है तो इतना उथला कि ज़रा-सा संकट आते ही काफूर हो जाता है। ...से स्वार्थ के लिए आज के श्रावक प्राय अपने विधर्मी

स्वामी-मालिक का इशारा पाते ही धर्म का परित्याग कर विधर्मी बन जाते हैं। सदैव अतृप्त रहने वाले उदर की पूर्ति करने के प्रयत्न में धर्म का नाश करने वालों की संख्या आजकल कम नहीं है। उन्हें इतना भी विचार नहीं आता कि जीवन की रक्षा धर्मकी आराधना करने के लिए की जाती है। जो जीवन धर्महीन है उसकी रक्षा करने से लाभ ही क्या है? जीवन तो मिलता ही रहता है, और प्रत्येक जीवन के साथ पेट भी प्राप्त होजाता है पर धर्म इतना सस्ता नहीं है। वह तो उत्कृष्ट पुण्य के योग से ही प्राप्त होता है। जीवन, तन-धन आदि धर्म के लिए न्योछावर किये जा सकते हैं। इस प्रकार विचार न करके मोही जीव इस पेट के लिए अपना अमूल्य रत्न-धर्म बेच डालते हैं। अनेक शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों द्वारा यह शर्त लगायी जाती है कि यदि तुम अपने धर्म का परित्याग कर हमारे धर्म को अंगीकार करो तो तुम्हारी शिक्षा की यहां व्यवस्था हो सकती है। विद्यार्थी बेचारे अनन्यगति होकर ऐसी शर्त स्वीकार करलेते हैं।परन्तु यह भी एक गंभीर भूल है। जिस विद्या के लिए धर्म का परित्याग करना पड़ता है वह कभी उपादेय नहीं है। कुज्ञान, अज्ञान से भी अधिक भयंकर होता है। ज्ञान का अभ्यास आत्मिक विकास के लिए करना चाहिए और आत्मिक-विकास धर्म की आराधना के द्वारा ही सभव है।

महिला-वर्ग की तो आजकल दशा ही निराली है। अनेक सम्भ्रान्त कुलों की महिलाएँ भी पुत्र प्राप्ति के हेतु अथवा पति को अपने आधीन बनाने के लिए न जाने कितनी विडम्बनाएँ करती हैं। वे भैरों, भवानी, भोपा, बाजिया, पीर-फकीर, बाबा, जोगी सन्यासी, और न जाने किन-किन के पास भटकती

फिरती है और इनके चंगुल में फंसकर अपने दर्शन और चारित्र रूप धर्म को मिट्टी में मिलाती है। उन्हें सोचना चाहिए कि इस समस्त विश्व मे धर्म ही सर्वश्रेष्ठ और अनमोल वस्तु है। धर्म ही इस लोक और परलोक में मनवांछित सुख देने वाला है। धर्म के विना सच्चे सुख की प्राप्ति होना असंभव है। ऐसी अवस्था में तुच्छ उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म जैसे महामहिम पदार्थ का परित्याग कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त भैरूँ भवानी आदि की विडम्बनाएं निरा धोखा ही है। भोली महिलाओं का द्रव्यधन और भाव धन लूटने का साधन है।

तात्पर्य यह है कि पुरोहित विश्वभूति किसी भी सांसारिक कामना के वशीभूत होकर अपने धर्म से च्युत नहीं होता था। धर्म के विषय मे वह किसी के प्रभाव से परिभूत न होता था। विश्वभूति की पत्नि अनुधरा भी उसी के अनुरूप स्त्री थी। वह अपने पति से भी दो कदम आगे रहती थी। इसी अनुधरा की कुक्षि से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके क्रमशः कमठ और मरुभूति नाम रखे गये। ये दोनों भाई जव कुछ वड़े हुए तो दोनो को नाना विद्याएँ और कलाएं सिखलाई गई। यद्यपि दोनो की शिक्षा समान रूप से संपन्न हुई पर दोनों के संस्कार समान नही थे। दोनो मे प्रकाश और अंधकार के समान अन्तर था। मरुभूति सद्गुणो का आगार था तो कमठ शठ और दुर्गुणों का भंडार था। मरुभूति अपने वाल्यकाल मे ही अपने सद्गुणो के मनोहर सौरभ से सव को आल्हादित करता था और कमठ अपने दुर्गुणों की दुर्गन्ध इतस्तत. फैलाकर सवको दुःखी वनाता था।

पुरोहित विश्वभूति के जीवन की सध्या प्रारंभ हो चुकी थी।

वे दिनोंदिन क्षीणशक्ति हो रहे थे। अतएव प्राचीन परिपाटी के अनुसार उन्होंने गृहस्थी का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने सिर से उतार कर अपने पुत्रों के सिर रक्खा और आप सब झंझटों से अलहदा होकर निश्चिन्त चित्त से धर्म का आराधन करने लगे। वास्तव मे पुत्रों की यही सार्थकता है कि गृहस्थी उन्हे सौप कर कम से कम जीवन के अन्त समय में विशेष रूप से धर्म की आराधना करने का अवसर मिल जाता है। पुरोहित विश्वभूति थोड़े समय वाद अनशन व्रत धारण कर के इस लोक से विदा हुए और अपने उपार्जित पुण्य के फल-स्वरूप प्रथम देवलोक मे देव हुए। उनकी पत्नी अनुधरा भी उसी स्वर्ग में उत्पन्न होकर पुनः देवी के रूप से उनकी पत्नी हुई। इधर कमठ अपने दुष्ट स्वभाव के साथ गृहस्थी का कार्य संचालन करने लगा और परम्परागत पुरोहिताई भी करने लगा।

उस समय श्रीहरिश्चन्द्राचार्य, जो अनेक रमणीय गुणों के धारक थे, अनेक ग्राम-नगर-आकर आदि मे जैनधर्म का उपदेश करते हुए भव्य जीवों के पुण्य-परिपाक से पोतनपुर नगर मे पधारे। मुनिराज चार ज्ञान के धारी और धर्मप्रियजन रूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान थे। आपके आगमन का शुभ संवाद ज्यो ही नगर मे पहुंचा कि नगर निवासी नर-नारियो के समूह के समूह उनके कल्याणकर दर्शन और उपदेश श्रवण के लिए उमड़ पड़े। राजा भी अपने प्रतिष्ठित और उच्च पदाधि-कारियो के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। विश्वभूति के दोनों पुत्र कमठ और मरुभूति भी माता-पिता के वियोग की वह्नि को मुनिराज की प्रशान्त पीयूषमयी वाणी के द्वारा शांत करने के लिए आये। क्योंकि मनुष्य के मन की वृत्ति वाह्य

कारणों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रियजनों के वियोग की व्यथा का उपचार धर्म-श्रवण, संसार की अनित्यता, अशरणता और आत्मा के एकत्व की भावना आदि से ही हो सकता है। जो घटना घट चुकी है उसके लिए खेद करके अशुभ कर्मों का नवीन बंध करना विवेकशीलता नहीं है। अतएव धर्म की विशिष्ट आराधना करके और संसार के स्वरूप का चिन्तन करके आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार कमठ, मरुभूति तथा अन्य पौर जनों के उपस्थित होने पर मुनिराज ने अपने मुख-चन्द्रमा से उपदेश-सुधा का प्रवाह बहाया। सब श्रोता एकाग्र मन से, चुपचाप, उत्कंठा पूर्वक उपदेश सुनने लगे। मुनिराज कहने लगे—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—निर्ग्रन्थ प्रवचन

अहिंसा, संयम और तप उत्कृष्ट मंगल है। उत्कृष्ट मंगल वह है जिसमें अमंगल का अणुमात्र भी अंश विद्यमान न हो और जिस मंगल के पश्चात् अमंगल का कदापि उद्भव न हो सके। संसार में अनेक पदार्थ मंगल-रूप माने जाते हैं किन्तु उनका विश्लेषण करके देखा जाय तो उनके भीतर अमंगल की भीषण मूर्ति बैठी हुई प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त वह सांसारिक मंगलमय पदार्थ अल्प काल तक किंचित् सुख देकर बहुत काल तक बहुत दु:ख देने के कारण परिणाम में अमंगल रूप ही सिद्ध होते हैं। मधुर भोजन, इच्छित भोगोपभोग, आज्ञापालक पुत्र, अनुकूल पत्नी, निष्कंटक साम्राज्य और सब प्रकार की इष्ट सुख-

सामग्री अन्त में एक प्रकार की वेदना देकर, स्थायी वियोग से व्यथित करके विलीन हो जाती है। अतः जो जीव शुद्ध और स्थायी मंगल चाहते हैं उन्हें अहिंसा, संयम और तप की आराधना करनी चाहिए। इस मंगलमय धर्म की शक्ति असीम है। जो अपने हृदय मे इसे धारण करता है, उसके चरणों में सामान्य जनता की तो बात ही क्या, देवता भी नतमस्तक होते हैं। धर्म ही संसार सागर से सकुशल पार उतरने के लिए जलयान है। अनादि काल से आत्मा मे जो अशुद्धि मल चिमटा हुआ है उसे धर्म द्वारा ही दूर किया जा सकता है। जीवन में धर्म ही सार तत्त्व है, और इसकी आराधना करने से ही मनुष्य सच्चे मनुष्यत्व का अधिकारी होता है। धर्म दो प्रकार का है— सर्व विरति और देश विरति। हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह रूप पापों का पूर्ण रूप से परित्याग करना सर्व विरति है। सर्व विरति महात्मा मर्यादित श्वेत वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणों के अतिरिक्त, जो संयम मे सहायक होते है, अपने पास और कुछ भी नहीं रखते। वे मुँह पर मुखवस्त्रिका बांधते है, बचा-खुचा, रूखा-सूखा भोजन करके संयम-पालन के निमित्त शरीर की रक्षा करते है, और सांसारिक बातो से जरा भी सरोकार नहीं रखते। इस प्रकार के धर्म को धारण करने वाले महात्मा मुनि कहलाते हैं। श्रावक धर्म बारह व्रत रूप है। जो मुनि धर्म को स्वीकार करने का सामर्थ्य रखते है, उन्हें उसे धारण कर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना चाहिए। किन्तु जिनमे इतनी क्षमता नहीं है, उन्हे गृहस्थ धर्म को तो धारण करना ही चाहिए। तभी आत्मा का उद्धार होगा। यही धर्म मोक्ष रूपी नगर मे जाने का राजमार्ग है। यद्यपि दोनों धर्मों मे विकलता और सकलता

का अन्तर है। फिर भी शनैः शनैः देशविरत श्रावक सर्व विरत वन जाता है। इस प्रकार धर्म ही समस्त सुखों का दाता है।"

मुनिराज ने ललिताङ्गकुमार का उदाहरण दिया। बोले :—

ललितांगकुमार 'श्रीवास' नगरी के नरनाथ नरवाहन के ज्येष्ठ पुत्र थे। वे जैसे शूरवीर, राजनीतिज्ञ और धर्मनिष्ठ थे वैसे ही उदारहृदय और परोपकारी थे। ललितांगकुमारका एक मित्र था—सज्जन। नाम से वह सज्जन था पर प्रकृति से अत्यन्त दुर्जन था। वह ललितांग को अपने सद्गुणों से विचलित करने का सदैव प्रयत्न किया करता था। वह समझाता—'कुमार, देखो यह दान वीरता कभी सत्यानाश कर देगी। भले का नतीजा हमेशा बुरा ही होता है।' कुमार उसका प्रतिवाद करता—वह कहता—कदापि नहीं। भले का नतीजा भला ही होता है।

इस प्रकार दोनों का विवाद चलता रहता था। एक बार कुछ दीन-दुखी कुमार के निकट आये। उसे अपनी दुर्गति का हाल सुनाया। कुमार का करुणापूर्ण हृदय दयार्द्र हो गया। उसने बहु-मूल्य हीरे की अंगूठी उतार कर उन्हे दे दी। सज्जन को अच्छा अवसर हाथ आया। उसने जाकर राजा से कह दिया। राजा अप्रसन्न हुआ, कुमार को डाटा-फटकारा और भविष्य मे ऐसा न [illegible]। कुमार पितृभक्त था। उसने पिताकी आज्ञा [illegible] कुमार की दानवीरता की चहुँ ओर प्रसिद्धि [illegible]र फिर मुसीबत मे पड़े हुए कुछ लोग कुमार [illegible] कुमार ने उन्हे कुछ सहायता तो दी पर उन्हे [illegible]चाहा न मिला। वे लोग फिर अपनी दीनता [illegible]से याचना करने लगे। कुमार का मृदुल हृदय [illegible]। प्राकृतिक दानवीरता जाग उठी। उसने [illegible]

मे पहना हुआ हार उतार कर उन्हें दे दिया। सज्जन की फिर वन आई। वह फिर राजा के पास दौड़ा गया। राजा ने अव की वार कुमार को देश निकाले का दंड दे दिया। प्रणवीर पुरुष घोर व्यथा उपस्थित होने पर भी अपने पथ से नही चिगते। ललितांग मन को मैला किये विना ही राजा की आज्ञा के अनुसार निकल पड़ा। सज्जन भी साथ हो लिया। दोनों सुनसान वन मे पहुँचे। वहाँ सज्जन वोला—कुमार, हठ छोड़ो। मेरा कहना मानों—भले का परिणाम वुरा ही होता है। पर कुमार यह भ्रान्त सिद्धान्त मानने को राजी न हुआ। अन्त मे सज्जन ने कहा— 'अच्छा चलो, किसी से निर्णय करालें। मै जीत गया तो तुम्हारा अश्व, आभूषण और वस्त्र मै लेलूँगा।' कुमार ललितांग ने यह स्वीकार कर लिया। आगे वढ़े तो कुछ ग्रामीण मिले। उन से पूछा गया—वताओ भाई, भले का फल भला होता है या वुरा? सव एक स्वर से 'वुरा' 'वुरा' चिल्लाने लगे। कुमार ने पूछा—कैसे? वे वोले—यहाँ हमारे राजा आये थे। हमने अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके उनका स्वागत किया। इससे संभवतः उन्होंने समझा—ये लोग मालदार है। जाते समय हमारे ऊपर कर का और अधिक वोझा लाद गये। अतः यह स्पष्ट है कि भले का फल वुरा होता है।

कुमार हार गया। उसने अपना अश्व आदि सज्जन को सौप दिये। दुर्जन 'सज्जन' अव घोड़े पर सवार होकर ताने कसने लगा। पर कुमार अपने सिद्धान्त पर अव भी अचल था। सज्जन ने दूसरी वार निर्णय कराने की चुनौती दी। और अव की वार हारने वाले की आंखे निकालने की शर्त लगाई गई। कुमार ने यह भी स्वीकार किया। पर जव निर्णय दोवारा कुमार के विरुद्ध

दिया गया तो उसने सहर्ष अपनी आंखें निकाल कर सज्जन को दे दी। क्रूर हृदय सज्जन कुमार को नेत्रविहीन कर चलता बना। कुमार को जंगल मे बैठे-बैठे शाम हो गई। पुण्य जिसका सहायक होता है उसका कहीं अनिष्ट नहीं हो सकता। शाम होने पर हँसों का एक झुंड वहाँ वट-वृक्ष पर वास करने आया। उनमे से एक हँस ने कहा—देखो जी, हम लोग चुगते तो मोती हैं। पर बदले मे कुछ भी नहीं देते। दूसरे ने कहा—वाह! देते क्यों नहीं ? इस वट वृक्ष पर जो लता लगी है, इसके पत्तों का रस कोई हमारी बीट मे मिलाकर लगाए तो नेत्र-हीन भी सनेत्र हो जाता है। जन्मांध भी इससे दिव्य ज्योति प्राप्त करता है।

कुमार यह संवाद सुन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उल्लिखित उपचार कर पुनः दिव्य ज्योति प्राप्त की और आगे चल दिया। चलते-चलते वह चम्पानगरी मे पहुँचा। चम्पा के राजा जित-शत्रु की कन्या नेत्रहीन थी। राजा ने वर की बहुत तलाश की, पर कोई अंधी राजकुमारी से विवाह करने को तैयार न हुआ। राज-परिवार इस घोर चिन्ता के मारे प्रातःकाल होते ही जीवित जल मरने को तैयार हो रहा था। सारी नगरी में कुहराम मचा हुआ था। ऐसे समय ललितांगकुमार चम्पा में पहुँचा। पुण्यवान् पुरुष जहा जाते हैं, अपने पुण्यके प्रताप से वहीं शान्ति का प्रसार करते हैं। कुमार ने राजकुमारी की चिकित्सा की। उसे दृष्टि प्राप्त हो गई। राजा ने प्रसन्न होकर कन्या का पाणिग्रहण भी कुमार के साथ कर दिया और आधा राज्य भी दे दिया। अब राजकुमारी के साथ ललितांगकुमार आनंद पूर्वक रहने लगे।

इधर सज्जन की करतूतें फलने-फूलने लगीं। वह दरिद्र हो गया। भीख मांग कर किसी प्रकार अपना निर्वाह करता था।

एक दिन भीख माँगने के लिए वह चम्पा में जा पहुँचा। कुमार ने सज्जन को तुरंत पहचान लिया। कुमार भले का फल भला ही मानता था अतः सज्जन के क्रूरता पूर्ण व्यवहार को भुलाकर भी उसने उसे आश्रय दिया। पर सज्जन ने अपनी दुष्टता न छोड़ी। एक दिन चुपके से वह राजा जितशत्रु के पास जा पहुँचा और उससे बोला—'आपके जामाता ललितांग मुझ से अत्यन्त स्नेह इस लिए करते हैं कि कहीं उनके पाप की पोल न खुल जाय। असली राजकुमार तो मै हूं। वह मेरा चरवादार है।' राजा ने यह सुना तो उसका रोम रोम क्रोध के मारे जलने लगा। सज्जन जब चला गया तो उसने जल्लादों को बुलाया। उन्हें समझाया— 'आज रात को ठीक ग्यारह बजे जब मै कुमार ललितांग को अपने पास बुलाऊँ तो अमुक स्थान पर उसका सिर धड़ से जुदा कर देना। खबरदार इसका भेद किसी पर प्रकट न होने पावे।

रात को नियत समय पर एक राजकीय पुरुष ललितांग के पास आया और कहने लगा—'कुमार, अभी इसी समय आपको महाराज ने याद किया है। कृपा कर मेरे ही साथ पधारिये।' कुमार कुछ दुविधा मे पड़ गये। इस समय ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा है। अन्त में उसने सज्जन से कहा—'भाई, जरा तुम्ही महाराज से मिल आओ। देखो क्यों उन्होंने मुझे याद किया है? सज्जन उस पुरुष के साथ हो लिया। किन्तु राजाज्ञा के अनुसार बीच ही में जल्लादों ने उसे ललितांगकुमार समझ कर कत्ल कर दिया। सच है, पाप बहुत दिनों तक नहीं छिपता—वह तो शीघ्र ही अपना फल देकर प्रकट हो जाता है।

प्रातःकाल हुआ। राजा ने ललितांग को सकुशल देखा और उसे यह भी मालम हो गया कि मेरे षड्यंत्र का रहस्य प्रजा पर

प्रगट हो चुका है तो उसका क्रोध और तेजी से भड़क उठा। उसने कुमार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कुमार भी सच्चा क्षत्रिय था और युद्ध विद्या में पूर्ण निपुण था। वह शूर-वीरों की तरह सामना करने को कटिबद्ध हो गया। वह बस्ती के बाहर गया और व्यूह-रचना कर डाली। राजा जितशत्रु को युद्ध के लिये सन्नद्ध देख उनके मंत्री ने पूछा, देव, आज किस पर भ्रकुटि चढ़ाई है? राजा बोला—न पूछो मंत्री जी, अनर्थ हो गया। कुमार चरवाहा है। उसने धोखा देकर राजकन्या ग्रहण करली है।

मंत्री प्रवीण था। उसने महाराज को वास्तविकता की खोज करने की प्रार्थना की और तब तक युद्ध की तैयारी रोकदी। अंत में सत्य सामने आया। कुमार के वास्तव में क्षत्रिय राजकुमार होने का प्रबल प्रमाण मिलने पर राजा लजाया, अपनी करनी के लिए पछताया और कुमार ललितांग से क्षमायाचना ही नहीं की वरन् उसे पूरे राज्य का अधिपति बना दिया। उधर ललितांग के पिता महाराज नरवाहन को पता चला तो वह भी अपने प्रिय पुत्र से मिलने चल दिया। अन्त में नरवाहन और जितशत्रु दोनों ने संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण की और ललितांग दोनों राज्यों का स्वतंत्र स्वामी बना। यह है धर्म का प्रभाव! घोर व्यथाएँ सहन करके भी ललितांग कुमार ने अपने धर्म की रक्षा की—धर्म के लिए राजपाट यहाँ तक कि नेत्रों का भी परित्याग किया तो धर्म ने भी उसकी रक्षा की और पुण्य के प्रताप से उसे राजसी ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई।

मुनिराज का यह उपदेश सुनकर श्रोतागण अत्यन्त हर्षित हुए और महात्मा मरुभूति के आनन्द का तो पार ही न रहा। जैसे

कोई क्षुधातुर प्राणी सुस्वादु भोजन सामने आने पर एकदम ग्रहण करने की इच्छा करता है उसी प्रकार मरुभूति की भी धर्म को ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा हुई। अलबत्ता श्रोताओं में एक प्राणी ऐसा था जिसके हृदय पर मुनिराज हरिश्चन्द्र के प्रभावशाली सदुपदेश का भी प्रभाव न पड़ा। तपे हुए तवे पर जैसे शीतल जल छिड़कने से वह तत्काल ही विलीन हो जाता है अथवा जैसे मंग सूलिया चिकना पाषाण मूसलधार वर्षा होने पर भी नहीं भींगता है उसी प्रकार उसके हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह प्राणी कौन था वह था कठोर-हृदय कमठ।

सच है प्रथम तो वीतराग भगवान् के श्रेयस्कर वचनों के श्रवण करने का सौभाग्य मिलना ही कठिन है, यदि कदाचित् श्रवण करने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उन पर प्रतीति होना और भी मुश्किल है। पूर्व जन्म में जिन्होंने प्रबल पुण्य का उपार्जन किया है वही नर-रत्न श्रद्धा रूपी चिन्तामणि प्राप्त कर सकते हैं। अतएव प्रत्येक आत्म कल्याण के इच्छुक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अत्यन्त अनुराग के साथ वीतराग-वाणी का श्रवण करे और उस पर पूर्ण श्रद्धा रख कर तदनुसार आचरण करने का यथा शक्ति प्रयास करे। मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट सफलता का यही चिह्न है।

मुनिराज का उपदेश कमठ पर तनिक भी प्रभाव न डाल सका, यह उपदेश का नहीं किन्तु कमठ की अन्तरात्मा की प्रगाढ़ मलिनता का दोष था। किसी कवि ने ठीक कहा है—

मधुना सिञ्चितो निम्बः, निम्बः किं मधुरायते।
जाति स्वभाव दोषोऽयं, कटुकत्वं न मुञ्चति॥

अर्थात् नीम को चाहे जितने मधु से सींचा जाय पर नीम क्या कभी मधुर हो सकता है; वह अपनी कटुता का त्याग नहीं करता यह दोप उसके जातीय स्वभाव का है—मधु का नहीं।

सौ मन साबुन से भी यदि कोयले धोए जाएँ तो भी वे उज्ज्वल नहीं हो सकते। पलाण्डु को भले ही कस्तूरी का खाद दीजिए वह अपनी दुर्गन्ध नहीं छोड़ने का। कमठ का आत्मा मिथ्यात्व की प्रगाढ़ता के कारण अतिशय मलीमस था। अतएव मुनिराज के सदुपदेश का उसके हृदय-प्रदेश मे लेश मात्र भी प्रवेश न हो सका। किन्तु मरुभूति का आत्मा पूर्व पुण्य के उदय से सरल और सत्याभिमुख था। उसने देशविरति को अंगीकार किया। वह प्रतिदिन सामायिक, सवर, पौपध, दया और व्रत प्रत्याख्यान आदि सदनुष्ठानों मे तल्लीन रहने लगा। वह ज्यों ज्यों आत्मा की ओर अभिमुख होता गया त्यों-त्यों सासारिक व्यवहारों तथा भोगोपभोगो मे उसका मोह घटने लगा। यह दशा देख मरुभूति की पत्नि वड़ी अप्रसन्न हुई। क्योंकि वह उसकी ओर से उदास सा होगया था और इसलिए उसके स्वार्थ मे वाधा पड़ रही थी। धीरे-धीरे वह अपने जेठ कमठ के प्रेम पाश मे फँस गई।

विपयान्ध प्राणी का मस्तिष्क और हृदय पाप की कालिमा के कारण इतना निर्बल और विवेकशून्य हो जाता है कि वह हिता-हित कार्य-अकार्य और वुरा-भला नहीं सोच सकता। जैसे मैले काच पर प्रतिविम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार विषयी पुरुष के कलुपित चित्त मे कर्तव्य, सदाचार, नीति और धर्म की उज्ज्वल भावनाएँ भी उत्पन्न नहीं होती। वह विवेक से भ्रष्ट होकर अधिकाधिक पतन की ओर अग्रसर होता चला जाता है। "विवेकभ्रष्टानां भवति विनियात. शतमुख." । जो जीवन की

पवित्रता एवं उज्ज्वलता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं उन्हें नीति और धर्म की मर्यादा से तिल भर भी आगे न बढ़ना चाहिये। क्योंकि सीमा का उल्लंघन होते ही अधःपतन का गहरा गड़हा मिलता है और जो उसमें गिरा उसका उद्धार बड़ी कठिनाई से होता है। कमठ और मरुभूति की पत्नि का आत्मा विवेकभ्रष्ट हो गया। उन्हें अकर्त्तव्य-कर्त्तव्य का भान न रहा। कमठ ने यह न सोचा कि मरुभूति मेरा लघुभ्राता है उसकी पत्नि मेरी पुत्री के समान है। मरुभूति की पत्नि ने भी कमठ को पितृतुल्य न समझा और दोनो पापात्मा भयंकर दुष्कृत्य करने लगे। किन्तु पाप छिपाये छिपता नही है। जब दोनों निर्लज्जता पूर्वक अनेक काम चेष्टाएँ करने लगे तो कमठ की पत्निको यह भेद मालूम हो गया। उसके हृदय में ईर्षा की भीषण ज्वाला धधक ऊठी। उसने अपने देवर मरुभूति के समक्ष सारा रहस्य खोल दिया। किन्तु सरल स्वभाव मरुभूति ऐसे घोर पाप की आशंका भी न कर सकता था। वह बोला:—भावज, प्रतीत होता है तुम्हें भ्रम हो गया है। मेरे बड़े भाई कमठ इस प्रकार का दुराचार नही कर सकते। मै तुम्हारी बात पर विश्वास नही कर सकता।'

भावज बोली—'देवरजी, 'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' यह कथन बिलकुल सही है। मै जो कह रही हू उसमें असत्य का लेश भी नही है। आप मुझ पर विश्वास न करे, न सही, जांच तो कर देखिए।'

मरुभूति शायद सॉसारिक प्रपञ्चों को जान लेना चाहता था। उसने इस घटना की परीक्षा करने की ठानी। वह जंगल मे जा, योगी का वेष बना कर अपने घर जहां कमठ रहता था, आया। कमठ ने इसे कोई योगी समझ ठहरा लिया। उस रोज़

कमठ मरुभूति को घर पर न पाकर और अधिक निर्भय होगया था। उसने आगत योगी की परवा न कर भाई की पत्नी के साथ प्रेमक्रीड़ा करना आरंभ कर दिया। योगी एक अनजान व्यक्ति की भांति एकान्त मे बैठा हुआ सब कुछ देखभाल रहा था। उसने जो कुछ देखा उससे अपनी भौजाई का कथन सर्वथा सत्य पाया। वह इस पापलीला को देखकर सिहर उठा। वह वहां से जंगल की ओर मुड़ा और योगी का वेश बदल कर अपने असली वेश मे घर लौट आया। वह मन मसोस कर अत्यन्त उदासीनता पूर्वक रहने लगा। अब उसकी आखों के आगे रह रह कर अपने भाई और अपनी पत्नी के इस भ्रष्टाचार का नग्न चित्र नाच रहा था। वह अधिक दिनों तक इस पाप-लीला को न देख सका। उसने एक दिन अपने बड़े भाई के पाप का भंडा फोड़ राजा के सामने कर दिया।

मनुष्य के सामने अनेकों बार बड़ी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक ओर मोह-ममता और दूसरी ओर कर्त्तव्य-प्रेरणा होती है। कभी मोह अपनी ओर मनुष्य को आकृष्ट कर के कर्त्तव्य की ओर से विमुख बनाना चाहता है और कभी बल-वती कर्त्तव्य-प्रेरणा जागृत होकर ममता को पछाड़ देना चाहती है। मनुष्य ऐसे प्रसंगों पर बड़ी दुविधा मे पड़ जाता है। जो निर्बल होते हैं वे मोह के आधीन हो जाते हैं। जो सबल हृदय के होते हैं वे मोह-ममता को लात मार कर कर्त्तव्य की पुकार सुनते हैं। कर्त्तव्य के आगे वे अपना और अपने आत्मीय जनों के क्षणिक स्वार्थ का उत्सर्ग करने मे जरा भी कुंठित नहीं होते। धर्म एवं नीति को अपने क्षणिक स्वार्थों से बढ़कर मानने वाले ...व्यक्ति इस पथ के सिवा और कौन-सा पथ चुन

सकते है। मरुभूति के सामने भी यही दुविधा उपस्थित थी। एक ओर अपनी प्रतिष्ठा का खयाल था, अपने भाई और अपनी भार्या के अपमान का प्रश्न था और दूसरी ओर नीति और धर्म की प्रतिष्ठा थी। वह यदि अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करता है तो नीति-धर्म की प्रतिष्ठा भंग होती है और यदि नीति-धर्म की प्रतिष्ठा की रक्षा करता है तो अपनी प्रतिष्ठा भंग होती है, साथ ही आत्मीय जनों को भी हानि पहुँचती है। इस विरोधी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिए ? उसने विचार किया और नीति-धर्म की प्रतिष्ठा को सर्वोच्च समझ कर उसकी रक्षा करने का निश्चय किया। उसने सोचा—'आज यदि मै चुपचाप इस भ्रष्टाचार को सहन कर लूंगा तो यह धीरे-धीरे अधिक फैलेगा और इसके विषैले कीटाणु सारे समाज को क्षत-विक्षत करके नष्ट भ्रष्ट कर डालेगे। इस प्रकार अनीति और अधर्म का प्रसार होगा तथा धर्म और नीति की प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी। अतएव मेरा कर्त्तव्य है कि मै अपनी प्रतिष्ठा को धक्का लगा कर भी, अपने भाई और भार्या को संकट मे डाल कर भी धर्म-नीति की रक्षा करूँ। यदि देखा जाय तो इस रहस्य के उद्घाटन से मेरी वास्तविक प्रतिष्ठा का विनाश भी नहीं होता है और आत्मीय जनों को भी सुशिक्षा मिलने के कारण उनका सुधार ही होगा।'

कितने उदार विचार! कैसा उच्च आशय है! धर्म और नीति के प्रति प्रगाढ़ अनुराग रखने वाले महापुरुष ही इस प्रकार का सत्साहस करते हैं और कोप के प्रसंग पर भी पापी जनों पर करुणा के शीतल कणो की वर्षा करते है।

राजा इस पापाचार की कहानी सुन कर चकित रह गया। उसने अपने कर्मचारियो को आदेश दिया और उन्होंने जा कर

कमठ को पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित किया। उसके मुँह पर कालिख पुतवाई गई। फिर गधे पर चढ़ा कर नगर के प्रधान २ बाजार में घुमा कर देश से उसे निर्वासित कर दिया। जिसने इस घटना को देखा उसी के कान खड़े हो गये और कहने लगे—देखो, परस्त्री सेवी की ऐसी दुर्गति होती है।

कमठ अपने घोर अपमान से आग बबूला होगया। वह अपने पाप कर्म पर रुष्ट न हो कर मरुभूति पर दांत पीसने लगा। उसने सोचा दुष्ट, तू ने ही मेरी यह दुर्दशा कराई है। अवसर मिलने पर इस तिरस्कार का प्रतिशोध तेरे प्राण लेकर करूँगा।' कमठ इस प्रकार विचार करता हुआ बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा। अन्त मे कोई ठौर ठिकाना न देख उसने शिव नामक एक तापस के पास तापसी दीक्षा धारण कर ली और दिन-रात धूनी धधका कर अज्ञान-तप करता हुआ अपने दिन व्यतीत करने लगा। इधर कमठ बाहर धूनी धधकाए रहता था, उधर उसके अन्तःकरण मे भी क्रोध की धूनी धधक रही थी।

वस्तुतः क्रोध अंधा होता है। क्रोध जब भड़कता है तो वह क्रोधी को विवेकशून्य बनाकर उसे पतन की ओर ले चलता है। क्रोध अनेक अनर्थों का मूल है। क्रोध के वश मे पड़ा हुआ प्राणी क्या-क्या अनर्थ नही कर डालता ? क्रोध की ही बदौलत कोई कूप मे गिर कर आत्महत्या करते है, कोई विष भक्षण कर अपने प्राणों का अन्त कर डालते है। कोई आत्मीय जनो का या दूसरों के जीवन का अपहरण करते और दुर्गति के पात्र बनते है। क्रोधी मनुष्य चाण्डाल से भी निकृष्ट बन जाता है।
—डाल रसोई मे प्रवेश कर जाय तो उस समय का भोजन अ-

पवित्र समझा जाता है पर क्रोध-चाण्डाल जब हृदय रूपी आगार में प्रवेश करता है तो कई जन्मों को अपवित्र कर डालता है।

एक बार एक पंडित जी स्नान-संध्या से निवृत्त होकर नगर के एक तंग रास्ते से जा रहे थे। ठीक उसी समय एक महतरानी सामने से आ रही थी। पंडित जी उस पर दृष्टि पड़ते ही बिगड़े और गालियों की बौछार करने लगे। महतरानी धीरे धीरे पीछे हटती हुई बाज़ार में आ गई। उधर पंडितजी के क्रोध का पारा सातवें आसमान पर जा पहुंचा। उनकी बकझक सुन कर भीड़ इकट्ठी हो गई। महतरानी ने पंडित जी का पल्ला पकड़ कर कहा, 'चलिए, अपने घर चलें। आप मेरे पति और मै आपकी पत्नी हूँ।' लोगों ने यह सुना तो स्तम्भित रह गये। परस्पर कानाफूसी और इशारेबाज़ी होने लगी। किसी ने कहा—'देखो, आज यह पोल खुली है। कुछ न कुछ दाल में काला अवश्य है। महतरानी निष्कारण तो यों नहीं कह सकती।' अब पंडितजी का दिमाग ठिकाने आया। वे कुछ शान्त होकर बोले—'अरी तू यह क्या तमाशा कर रही है? मै कब तेरा पति बना हूं? तू पागल तो नही हो गई है? क्यो मेरी इज्ज़त धूल मे मिला रही है? क्यों यह कलंक मेरे माथे थोप रही है? भला, ये सुनने वाले लोग अपने मन से क्या समझेंगे? पण्डितजी का यह कहना था कि महतरानी उनका पल्ला छोड़ कर अपना रास्ता नापने लगी। पंडितजी फिर बोले—'महतरानी बाई, आखिर अब यकायक क्यों चलदी? अपनी बातों का मर्म तो समझाए जा! तूने क्यों मेरा पल्ला पकड़ कर मुझे अपना पति बनाया और अब चुपचाप क्यों खिसकी जाती है?' महतरानी ने कहा—पंडितजी महाराज, जब आप क्रोध के वश मे हो गये थे, उसके

प्रभाव से अंटसंट वक रहे थे तव आपका पल्ला मैंने इसलिए पकड़ा था कि क्रोध-चांडाल मेरा पति है। मै चांडालिन हूँ। अपने पति-चांडाल को आपके हृदय में वैठा देख आपका पल्ला पकड़ा। लेकिन जव मैंने देखा कि चाडाल आपके हृदय मे से निकल भागा है तव उसी दम आपका पल्ला छोड़ दिया है।

तात्पर्य यह है कि क्रोध के वश मे हुआ मनुष्य चांडाल से भी वदतर हो जाता है। कमठ ने तापसी दीक्षा धारण की, वह धूनी रमा कर काय क्लेश करने लगा पर क्रोध चाण्डाल उससे दूर न हुआ। वह अपनी कलंकित करतूतों से लज्जित होने के वदले और उनका यथोचित प्रायश्चित करके भविष्य मे आत्मा को उज्ज्वल वनाने के वदले मरुभूति, अपने अनुज को मार डालने की घात में वैठा है।

मृदुल-हृदय मरुभूति ने कमठ के तापस होने का समाचार सुना तो उसका स्नेह-सिक्त अन्तःकरण वन्धुप्रेम से आर्द्र हो उठा। उसके नेत्रों से प्रेम के आंसू वहने लगे। वह भाई से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठा। एक दिन वह भाई से मिलने के निमित्त अपने घर से विदा हुआ और खोजते खोजते कमठ तापस के समीप जा पहुँचा। वड़े भाई पर दृष्टि पड़ते ही वह हर्ष के मारे गद्गद हो गया। उसका हृदय एकदम निश्छल और सरल था। उसे नही मालूम था कि कमठ अपने अपमान का एक मात्र कारण उसे ही समझ कर उसके प्राणो का ग्राहक वना वैठा है। उसने पास मे पहुँच कर कमठ को प्रणाम करने और क्षमा-प्रार्थना करने के लिए चरणों मे मस्तक नमाया। इधर मरुभूति पर नज़र गिरते ही कमठ का क्रोध और अधिक

धधक उठा। वह प्राणों का प्यासा तो पहले से ही था। उपयुक्त अवसर देख कर उसने पास में पड़ी हुई शिला उठाकर मरुभूति के माथे में दे मारी। शिला का प्रहार होते ही मरुभूति का मस्तक चूरा-चूरा हो गया। अन्त में तीव्र वेदना के साथ उसके जीवन का अन्त हो गया।

द्वितीय जन्म

मरुभूति मनुष्य पर्याय का परित्याग कर विन्ध्याचल पर्वत की गुफाओं में रहने वाले हाथियों के यूथ में हाथी हुआ। उसकी आकृति अतीव आकर्षक थी। उसके सभी अंगोपांग मनोहर और दर्शनीय थे। उधर कमठ की स्त्री का देहान्त हुआ और वह भी इसी हस्थी-यूथ में एक हथिनी के रूप मे उत्पन्न हुई।

पोतनपुर के महाराज अरविन्द आनन्द के साथ कालक्षेप करते हुए एक दिन झरोखे मे बैठकर नैसर्गिक दृश्य देख रहे थे। आकाश मंडल चहुँ ओर रंग-विरंगे मेघों से आच्छादित हो रहा था। मेघों के बीच-बीच में कभी-कभी बिजली चमक उठती और दूसरे ही क्षण वह शून्य में विलीन हो जाती थी। सघन मेघ घटाएँ मानों आकाश को मढ़ देना चाहती थीं। राजा अरविन्द यह दृश्य देख ही रहा था कि अचानक समय ने पलटा खाया। कुछ ही क्षणों के पश्चात् वायु के प्रबल थपेड़ों से मेघ तितर-बितर हो गये। देखते-देखते वही आकाश, जो सघन घन-घटाओं से मढ़ा हुआ दिखाई देता था और जिसमे चंचल विद्युत् दौड़धूप मचा रही थी, एकदम स्वच्छ और नंगा सा दिखाई पड़ने लगा। पहले का दृश्य अदृश्य हो गया। मेघों की अनित्यता

और बिजली की क्षणभंगुरता को देखकर राजा के हृदय में संसार की अनित्यता का चित्र अंकित हो गया। वह मानो अब तक स्वप्न देख रहा था और अब यकायक जाग पड़ा। उसे ज्ञान हो आया। वह सोचने लगा—"ज्ञानी जन सच कहते हैं कि धन, यौवन के मद में फूला नहीं समाता, अपने सबल, सुन्दर और स्वस्थ शरीर पर इतराता है वही कल अर्धमृतक-सा वृद्ध होकर मानों हाड़ों का पिंजर बन जाता है। उसके शरीर की सुन्दरता को जरा-राक्षसी जर्जरित कर देती है, बुढ़ापा बल को निगल जाता है और स्वस्थता की इति-श्री हो जाती है। इसी प्रकार कल तक जो धन-कुबेर था वही आज भाग्य प्रतिकूल होने पर बेर बीन कर उदरपूर्ति करता है। आज जो ज़मीन में धन गाड़ता है वही कल खोदने पर उसे कोयलों के रूप में पाता है। आज जो भड़कीला वेप धारणकर बड़े ठाठसे सजे हुए सुन्दर रथ पर बैठ कर निकलता है वही कल रथी (अरथी) पर लेट कर निकलता है। आज जो विषय-भोग पीयूष से प्रतीत होते हैं वही कल हलाहल विष के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक प्राणी के सिर पर मृत्यु चील की भांति मंडराती रहती है और अवसर पाते ही झपट्टा मारती है। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा, यहां तक कि देवता और देवेन्द्र भी मृत्यु की धाक से कांपते रहते हैं। फिर बेचारे साधारण मनुष्य किस खेत की मूली हैं? मानव जीवन जल के बुलबुले के समान क्षण-विनश्वर है। जब मृत्यु का आगमन होता है तो न परिवार सहायक होता है न धन-सम्पत्ति ही रक्षा कर सकती है। सुखोपभोग के समस्त साधन यहीं पड़े रहते हैं और आत्मा अपने किये हुए पुण्य-पाप के साथ अकेला चल देता है। अतएव विवेकशील व्यक्ति को चाहिए कि—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविन्दिया न हायंति, ताव धम्मंसमायरे ॥

अर्थात् जब तक जरा-जन्य आधि-व्याधियों ने आकर नहीं सताया है, जहां तक इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ हैं—उनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है, तब तक जितनी धर्म आराधना हो सके, कर लेना चाहिए । सन्त महात्माओं के इस सरल और सुस्पष्ट कथन का अनुसरण करके अनेक पुरुषों ने अपनी विशाल भोग सामग्री और प्राज्य साम्राज्य को त्याज्य समझा है और संयम की साधना मे वे तन्मय होगये हैं । वे धन्य है । मै भाग्यहीन आज तक राज्य लिप्सा का शिकार हो रहा हूं । मुझे अब तक संयम के अनुपम आनन्द को प्राप्त करने का अवसर नही मिला । मै भी अब सांसारिक बिडम्बनाओं से अपना पिण्ड छुड़ाकर आत्म कल्याण के अर्थ जैनेन्द्री दीक्षा धारण करूँ ।"

राजा अरविन्द ने अपने विचार ज्यों ही प्रकाशित किये त्यों ही प्रजा में एक प्रकार की खलबली-सी मच गई । अन्तःपुर में रानियां उदास हो गई । वे दीनता पूर्वक कातर स्वर में कहने लगीं—'प्राणनाथ ! हम अबलाओं को त्यागकर आप कहां जाते हैं ? आपने राज-वैभव का उपभोग किया है और साधुवृत्ति तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है । आपका यह सुकोमल शरीर उसके योग्य नहीं है । कहां तो उत्तमोत्तम रथों, अश्वों और गजेन्द्रों की सवारी और कहां बिना पादत्राण पैदल बिहार ! कहां सरस, सुस्वादु मनोहर और नाना प्रकार का पौष्टिक षट् रस भोजन और कहां सूखा-रूखा भिक्षान्न । कहां दुग्ध धवल

सुकोमल सुमन-सेज और कहाँ कठिन भूमि-शयन । कहां दशों दिशाओं को अपनी मनोहर सुरभि से सुरभित कर देने वाला विलेपन और स्नान और कहां स्नान का आजीवन परित्याग ! कहाँ उष्णकाल मे चन्दन, उशीर आदि सुगंधी और शीतल वस्तुओं का सेवन और कहां वालू पर निश्चलता के साथ स्थित होकर कड़ी धूप मे आतापना लेना । कहां शीत काल मे गर्म महलों मे गर्म वस्त्रों का परिधान और कहां कायोत्सर्ग धारण करके नदी किनारे का अवस्थान ! कहां उंगली के इशारे पर नाचने वाले सहस्रों दास, दासियां और कहां अपनी उपाधि को स्वयं लाद कर चलना ! कहा इन कमनीय केशों का सुगंधित तैलों से सुवासित करना और कहां इनका अपने हाथों से लुंचन करना ! कहा यह रत्न-जटित सुवर्णमय आभूषण और कहां मिट्टी तूंवे या लकड़ी के पात्र ! नाथ, यह कष्ट तो सामान्य रूप से हमने वताये हैं। साधुवृत्ति तो इससे भी अधिक कठोर है । उसमे प्राणान्तक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी मानसिक समाधि मे, समता भाव मे स्थित रहना पड़ता है, वैरी पर भी मैत्री भाव रखना होता है। मन का दमन, इच्छाओं का निरोध और वासनाओं का विनाश करना तो उस अवस्था मे अनिवार्य ही है। यह सब आप से न होगा। साधुवृत्ति मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना है और रेत के लड्डुओं को हजम करने के समान दुष्कर है। अतः हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। घर मे रह कर गृहस्थधर्म का पालन कीजिए। गृहस्थ धर्म भी तो मुक्ति का ही सोपान है।"

महारानियों की मोह-ममतामयी बाते सुनकर राजा अरविन्द बोले—"महारानियो, सुनो । साधुवृत्ति की जिस कठोरता का

अत्युक्तिपूर्ण चित्र तुमने मेरे सामने अंकित करके मुझे भयभीत करना चाहा है, उससे मेरे संकल्प में तनिक भी शिथिलता नहीं आने पाई। बाह्य पदार्थों से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख कल्पना-प्रसूत हैं। उनमे कोई तथ्य नही है। एक व्यक्ति जिसे सुख मानता है उसी को दूसरा दुःख मान बैठता है और जिसे एक दुःख मानता है दूसरे उसे सुख समझ कर गले लगाते हैं। एक रस लोलुप जिस भोजन को नीरस समझ कर घृणा पूर्वक ठुकरा देता है उसे एक दरिद्र पुरुप आन्तरिक आह्लाद के साथ ग्रहण करके कृतार्थ हो जाता है। भोजन मे ही यदि दुःख-सुख उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह सभी में एक-सी भावना उत्पन्न करता। इससे यह प्रतीत होता है कि सांसारिक सुख-दुख हमारे मनो यंत्र में निर्मित होते हैं। इसके अतिरिक्त हम मोह वश जिसे सुख कहते है वह है कितने दिन का? आज है कल नही। बड़े-बड़े सम्राटों को पल भर में फकीर होते देखा जाता है और आयु के अंत मे तो वे अवश्य ही बिदा होते हैं। सुख के सभी साधन जब हमे छोड़ कर जाने वाले है तो क्यों न हम स्वयं इच्छापूर्वक उनका परित्याग करदे? इच्छा पूर्वक त्याग करने से वियोग-व्यथा से हृदय व्यथित नहीं होता है। अन्तःकरण संतोप जन्य सुख का संवेदन करता है और आतमकल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है। राई भरे सुख के लिए सुमेरु वरावर दुःखों को निमंत्रण देना विवेकशीलता नही है और न क्षणभर की संपत्ति के लिए दीर्घकाल की विपत्ति का आह्वान करना बुद्धिमत्ता है।

मुनि वृत्ति दुःखो का आगार नहीं मगर सुखों का सागर है। निवृत्तिजन्य अनिवर्चनीय आनंद का प्रवाह वहाने वाली सुर-सरिता साधुवृत्ति ही है। संयम और संतोप मे जो सुख है वह

संसार के सुख साधनों में कहां ? साधु अपनी इन्द्रियों और मन पर सदैव अंकुश रखता है। वे विषयों की ओर कभी आकृष्ट नहीं होते। मुनि समस्त कामनाओं पर विजय प्राप्त करता है अतएव कामनाओं की पूर्ति के लिए उसे प्रयास ही नहीं करना पड़ता। अन्तरात्मा में आनन्द का जो असीम और अक्षय समुद्र लहरा रहा है उसमें अन्तर्दृष्टि महात्मा ही अवगाहन कर सकते है। उसमें एक बार जिसने अवगाहन किया वह संसार के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट समझे जानेवाले सुखों को तुच्छ और नीरस समझ कर उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता।

थोड़ी देर के लिए बाह्य दृष्टि से यह मान लिया जाय कि तुमने साधुवृत्ति के जिन कष्टों का दिग्दर्शन कराया है वे वास्तविक हैं, तो भी इस आत्मा ने विषयों के वश होकर अनादिकाल से जो घोर वेदनाएँ सहन की है उनकी तुलना में यह कष्ट बिलकुल नगण्य है। नरक की रोमाञ्चकारिणी व्यथाएँ अनन्त वार इसी आत्मा ने भुगती हैं। तिर्यञ्च गति की प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली यातनाएँ इसी आत्मा ने सहन की है। तो क्या यह आत्मा इन थोड़ी-सी वेदनाओं को सह न सकेगा ? देखियो मन की कायरता तिल को ताड़ बना देती है। धर्म की आराधना सुखमय है और सुख का कारण भी है। धर्म ही सच्चा सखा है। वही शाश्वत कल्याण का जनक है। इस विशाल विश्व मे धर्म के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका शरण जन्म-मरण के कारण उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्त कर सकता हो। अतएव पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्य के परिपाक से मुझ मे जो प्रशस्त परिणाम उत्पन्न हुआ है उससे तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिए और मेरे श्रेय-मार्ग मे सहायक बन कर अर्धाङ्गिनी पद की मर्यादा

अक्षुण्ण रखना चाहिए।"

इस प्रकार रानियों को समझा बुझाकर राजा अरविन्द ने उन्हें शान्त किया। उनके अध्यवसाय विशुद्ध होते गये। परिणामों की विशेष विशुद्धता से उनके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगया और अवधिज्ञान का उदय हुआ। अवधिज्ञान होने पर उन्होंने अपने पुत्र महेन्द्र को राजसिंहासन पर आसीन किया और अपना समस्त राजकीय उत्तरदायित्व एवं अधिकार उसे सौंप दिये। तदनन्तर श्रीभद्राचार्य के चरण कमलों में उपस्थित होकर उनसे दीक्षा अंगीकार की। अपने गुरु श्री भद्राचार्य से उन्होंने चौदह पूर्वों का ज्ञान सम्पादन किया और विशिष्ट साधना के निमित्त एकल विहारीपन धारण किया। उसी दिन से वे पहाड़ो की गुफाओं में रहने लगे। मुँह पर बांधने के लिये मुँहपत्ती और जीव-रक्षा के लिये रजोहरण उनके पास था। भिक्षा के लिए नियत समय पर बस्ती मे जाते। एक वस्त्र और पात्र ही वे रखते थे। उन्होंने जिनकल्प धारण कर लिया था। जिस बस्ती में यह मालूम हो जाता कि जिनकल्पी मुनि यहां आस पास के जंगल मे ठहरे हुए हैं वे उस बस्ती से दूर अन्यत्र कहीं जंगल में चले जाते थे।

जिनकल्पी मुनियों का आचार अत्यन्त दुर्धर है। इस कल्प को वज्र-ऋषभनाराच संहनन के धारी महा सत्वशाली महात्मा ही धारण कर सकते हैं। इस काल मे उक्त संहनन का विच्छेद हो जाने से जिनकल्प का भी विच्छेद हो चुका है।

अरविन्द मुनि ने जिनकल्प धारण करते ही एक एक महीने की तपस्या आरम्भ करदी। एक वर्ष में उन्होंने केवल बारह बार आहार ग्रहण किया। इस घोर तपस्या से उन्हें अनेक लब्धियो

की प्राप्ति हुई। मन पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से उन्हें मन पर्याय ज्ञान भी उत्पन्न हो गया। मुनिराज एक बार विहार कर रहे थे कि मार्ग से सागरदत्त नामक एक सार्थवाह से उनकी भेंट हो गई। सार्थवाह ने पूछा—'भगवन्! आपने यह कपड़ा मुँह पर क्यों बांध रखा है? उन्होंने कहा—'भद्र, यह मुख पर का वस्त्र जैन साधुओं के आदर्श त्याग का द्योतक है। इस वस्त्र से ही पहचाना जाता है कि यह जैन साधु है। इसे मुखवस्त्रिका कहते हैं। मुखवस्त्रिका शास्त्रों के पठन-पाठन के समय थूक द्वारा शास्त्रों को अपवित्र होने से बचाती है अर्थात् उसके मुँह पर बंधे रहने से शास्त्रों पर थूक नहीं गिरता। और खास कर भाषा के पुद्गलों से हवा के टकराने पर जो जीव हिंसा होती है वह इस मुँहपत्ति के द्वारा बच जाती है।

सार्थवाह—महाराज, मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या हवा नाक के द्वारा नहीं निकलती है?

मुनिराज—मैंने यह कब कहा कि प्राकृतिक सचित्त हवा से जीवहिंसा होती है? जीवहिंसा तो तब होती है जब प्राकृतिक सचित्त हवा से कृत्रिम अचित्त हवा का संघर्ष होता है। तात्पर्य यह है कि भाषण करते समय भाषा के पुद्गलों से जो अचित्त वायु उत्पन्न होकर सचित्त वायु से टकराती है तब सूक्ष्म जीव मरते हैं और इसलिए मुँहपत्ती बांधी जाती है।

सार्थवाह—अच्छा महाराज, यह एक गुच्छा-सा किस लिए है?

मुनिराज—भाई, सूर्य के प्रकाश में तो देख भाल कर चलने से जीवहिंसा से बचा जा सकता है, मगर रात्रि में जब थोड़ा-बहुत चलने फिरने का काम पड़ता है तो भूमि को इस रजोहरण

से परिमार्जित करके चलते हैं। इस प्रकार करने से जो चिउँटी आदि जीव-जन्तु उस भूमि पर होते है वे इस ऊनी रजोहरण के कोमल स्पर्श से बिना कष्ट पाये एक ओर हो जाते हैं। पैर के नीचे आकर उनके मरने की संभावना नही रहती।

सार्थवाह—महाराज! आप देव किसे मानते हैं?

मुनिराज—जिस महापुरुष में दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय, हास्य, रति, अरति, जुगुप्सा, भय, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, अव्रत, राग और द्वेष ये अठारह दोष विद्यमान न हों, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति संपन्न हों वही हमारे अभिमत देव हैं। ऐसे देव त्रिलोकपूज्य होते है। सुर, नर, ऋषि और मुनिगण सभी उस देव की एक स्वर से महिमा गा रहे है। ऐसे सच्चे देव की उपासना भाग्योदय से ही प्राप्त होती है। हम उसी निरंजन भगवान् की सदैव उपासना करते हैं। जो भद्र जीव ऐसे देव के शरण को ग्रहण करते हैं वे निकट भविष्य मे ही जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं हां, यदि कोई मलिन भावों से या किसी दुर्वासना की पूर्ति के उद्देश्य से उपासना करे तो वह पाप का ही उपार्जन करता है। प्रतिष्ठानपुर के नंद और भद्रक इस कथन के प्रमाण है। उनकी कथा इस प्रकार है:—

प्रतिष्ठानपुर मे नन्द और भद्रक नामक दो वणिक पुत्र रहते थे। दोनों सहोदर भ्राता थे। पर उनकी प्रकृति बिलकुल भिन्न थी। दोनों की दुकाने अलग-अलग थीं। भद्रक प्रातःकाल होते ही दुकान पर जा बैठता था। वह न कभी माला फेरता, न गुरु-दर्शन करता। नन्द इससे सर्वथा विपरीत प्रतिदिन गुरुदर्शन करता, सामायिक करता और तब दुकान खोलता था। इस प्रकार

दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। पर भद्रक यद्यपि दुकान प्रातः-काल खोल लेता था किन्तु अपने आपको धर्मध्यान न कर सकने के कारण मन ही मन सदा कोसता रहता और कहता—धन्य है मेरा लघुभ्राता नन्द, जो प्रातःकाल गुरुदर्शन करता है, सामायिक करता है। एक मैं पापी हूं जिससे तनिक भी धर्मक्रिया नहीं बन पड़ती। सामायिक तो दूर रही मैं तो गुरुदर्शन भी नहीं करता हूं। हाय, न जाने भविष्य में मेरी कैसी दुर्गति होगी। इस प्रबल तृष्णा ने मुझे कैसा अपने जाल में फांस लिया है! भद्रक इस प्रकार शुभ भावना द्वारा सदैव पुण्य का उपार्जन कर लेता था। उधर नन्द गुरुदर्शन करता था, सामायिक भी करता था, पर उसके भावों में निर्मलता न होती थी। वह सोचता रहता देखो, मेरे ज्येष्ठ भ्राता कितने शीघ्र दुकान खोल लेते हैं। अवश्य ही वे अधिक माल बेचते होंगे और अधिक धनोपार्जन भी करते होंगे। मैं ऐसा पागल हूँ कि आय के समय व्यर्थ ही इधर आकर माथापच्ची करता हूँ। मगर करूँ क्या, एक दिन भी नागा करता हूँ तो गुरुजी आफत मचा देते हैं, लोकनिन्दा होती है और अब तक जो प्रतिष्ठा मैंने बना रखी है उसमें धब्बा लगता है। इसके अतिरिक्त मूर्खतावश मैंने प्रतिदिन सामायिक करने की प्रतिज्ञा भी लेली है। मेरी पत्नी को भी, इन गुरु महाराज ने भुलावे में डाल रखा है। मैं सामायिक न करूँ तो वह भी सौंठ बन कर बैठी रहती है—बात भी नहीं करती। पर इसी प्रकार चलता रहा तो भद्रक शीघ्र ही धनाढ्य हो जायगा और मैं यों ही रह जाऊँगा।" इस प्रकार के अशुद्ध अध्यवसाय के कारण उसे व्यन्तर आयु का बंध हुआ। भद्रक यद्यपि द्रव्य क्रिया न करता था तथापि भावों की निर्मलता के कारण वह

प्रथम स्वर्ग में दिव्य तेज का धारक देव हुआ।"

आशय यह है कि जब तक कोई भी धर्मक्रिया केवल शारीरिक रहती है और अन्तःकरण से उसका स्पर्श नही होता तब तक वह अपना फल प्रदान नही करती। भावहीन चारित्र विडम्बना मात्र है। मन प्रधान है। आत्मा का उत्थान और पतन मन की शुभाशुभ परिणति पर ही निर्भर है। सार्थवाह आप भी जो उपासना करे उसमें परिणामों की निर्मलता रखे, तभी वीत-राग देव की आराधना सार्थक होती है।

मुनिराज अरविन्द का प्रभावपूर्ण उपदेश सुन सार्थवाह सागरदत्त ने उनसे श्रावक के व्रत ग्रहण किये। वह देशविरति का आराधक श्रावक बन गया। मुनिराज ने वहां से विहार किया और सागरदत्त भी चल दिया।

एक बार फिर मुनिराज अरविन्द की सेठ सागरदत्त से विन्ध्याचल की खोह में भेंट हो गई, जहां भावी पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति हाथी के रूप मे रहता था। उस दिन वह हाथी अपने यूथ के साथ जल पीने के लिए सरोवर के समीप पहुँचा तो क्या देखता है कि वहां किसी का पड़ाव पड़ा है। वह आग बबूला हो गया। उसने मेघ की गर्जना को तिरस्कृत कर देने वाली प्रबल चिंघाड की और पड़ाव के मनुष्यो की ओर झपटा। पड़ाव के सभी मनुष्य मदोन्मत्त और क्रुद्ध हाथी को चिंघाड़ते हुए अपनी ओर आता देख अपनी-अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागे। मुनिराज पड़ाव के पास ही ध्यानमग्न थे। हाथी बिगड़ता हुआ उनकी ओर मुडा। ज्यो ही वह उनके समीप पहुँचा त्यों ही उसने अपने आपको अशक्त-सा पाया, मानो किसी ने मंत्र द्वारा उसके अप्रतिहत सामर्थ्य को कील दिया हो।

उसने अनुभव किया—जैसे मेरी यह प्रबल बलवती सूंड अचेतन-सी हो गई है, मरे हुए सांप के समान निर्बल हो गई है। मुनिराज का ध्यान जब समाप्त हुआ तो उन्होंने गजराज पर एक स्नेह भरी अमृत-दृष्टि डाल कर कहा—'अहो गजराज, अपने जीवन को यों बर्बाद कर रहे हो? अपने पूर्व-भव की घटना का तो स्मरण करो। जब तुम्हारे भाई कमठ ने तुम्हारे मस्तक पर शिला का प्रहार किया था, तब तुम्हारे परिणाम यदि उच्च श्रेणी के रहे होते तो इस तिर्यञ्च गति में क्यों जन्म लेना पड़ता? मलिन विचारों के कारण ही तुम्हारी यह दशा हुई है। मगर जो गया सो गया। अब भी समय है, संभल जाओ। आत्महित की ओर लक्ष्य करो और उसी ओर आगे बढ़ो।

मुनिराज का कथन सुनते ही हाथी को भूली हुई सब घटना स्मरण हो आई। उसका आत्मा जातिस्मरण नामक ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठा। ज्ञान का उदय होते ही उसे अपने पिछले कार्यों का अत्यन्त पश्चाताप हुआ। उसने अपनी सूंड से मुनि के पावन चरणों का स्पर्श किया; और अपनी श्रद्धा-भक्ति का पूर्ण परिचय दिया।

मुनि बोले—गजराज! यह सारा संसार नाटक का रंगमंच है। सब संसारी जीव इस रंगमंच पर खेल खेलने वाले नाटक के पात्र हैं। यह जीव कभी कोई रूप धारण करता है, कभी कोई। तुम अपने ही रूपों पर विचार करो। पूर्व जन्म में तुम ब्राह्मण के रूप में थे। श्रावक-धर्म पालन करते थे। अन्त समय तुम्हारे भाई ने तुम्हारे ऊपर शिला पटकी। उस समय थोड़ी देर के लिए तुम्हारे मन में आर्त ध्यान उत्पन्न हुआ उसका फल यह हुआ कि इस भव में तुम्हें तिर्यंच होना पड़ा है।

तुम्हारे भाई ने क्रोध के आधीन होकर कैसा भयंकर दुष्कृत्य किया ? तुम उसे भली भांति जानते हो फिर भी स्वयं क्रोध से अंधे होकर, विकराल भावों से नर-संहार करने के लिए उद्योगशील हो रहे हो। भद्र, अब सावधान होओ। भविष्य का विचार करो। अधिक कुछ न कर सकते तो इतना अवश्य करो कि भविष्य में कभी मनुष्य की हिंसा न करना। अपनी मर्यादा में यथाशक्ति श्रावक की भांति रहना।

हाथी ने अपना सिर हिलाकर इन प्रतिज्ञाओं के पालन करने की स्वीकृति दी। मुनि और हाथी का यह संवाद वरुणा नामक हथिनी ने, जो पूर्व भव मे कमठ की पत्नी थी, सुना और सुनते ही उसे भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मरण, मतिज्ञान का ही एक भेद है और उससे पूर्वजन्मों का स्मरण हो जाता है। यह ज्ञान आजकल भी हो सकता है और किसी किसी को होता भी है। समाचारपत्रों के पाठकों को मालूम है कि

सामर्थ्य का उदय हुआ उसने चार घनघातिया कर्मों को चकचूर कर-दिया। उन्हें सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त हुई। समस्त लोकालोक उनके ज्ञान में हस्तामलक से भी अधिक सुस्पष्ट रूप से आलोकित होने लगा। अन्त मे चार अघातिक कर्मों का भी क्षय करके महात्मा अरविन्द मुक्तिधाम मे जा विराजे।

इधर मरुभूति का जीव हाथी दो-दो-चार-चार दिनों तक कुछ भी न खाता था। जब कभी खाता भी तो वृक्षों की सूखी पत्तियों से संतोष कर लेता था। ऐसा करने से हाथी का शरीर दुर्बल हो गया।

अब कमठ की ओर ध्यान दीजिये। वह तापस रूप मे अपने दिन बिता रहा था। जब उसने अपने सहोदर मरुभूति के प्राण ले लिये और उसके गुरु को उसकी इस भीषण पापमय करतूत का पता चला तो उसने कमठ को अयोग्य और नृशंस समझकर अपने आश्रम से आश्रय देना उचित न समझा। उसे तत्काल निकाल बाहर कर दिया। इस घटना से आग मे और घी पड़ गया। अब उसके क्रोध का रूप अधिक प्रचण्ड होगया। वह अपना पापमय समय व्यतीत करता हुआ आयु के अंत होने पर विन्ध्याचल के पहाड मे कुर्कट जाति का सर्प हुआ। क्रोध के प्रभाव से वह सर्प इतना विषैला हुआ कि लोग उसके भय के मारे थर्रा उठे। पथिकों का उसके निवास-स्थान की ओर आवागमन बंद होगया। यहां तक कि पशु भी उस ओर जाने का साहस न करते थे। तीव्र विष-धारक उस सर्प की विषैली फुंकारों से समस्त जंगल ऐसा रुण्ड-मुण्ड हो गया मानों दावानल ने सारे जंगल को भस्म कर डाला हो। भावी प्रबल होती है। होनहार टलती नहीं। संयोगवश मरुभूति का जीव

हाथी सूखी पत्तियां खाकर भूला-भटका पानी पीने के निमित्त उधर जा पहुँचा। उसे पता नहीं था कि उसका पूर्वजन्म का सहोदर विषधर सर्प बन कर यहीं त्राहि-त्राहि मचवा रहा है। वह पानी पीने के लिए सरोवर में उतरा। कीचड़ की अधिकता के कारण और तपस्या से दुर्बल होने के कारण वह कीचड़ में फँस गया और निकलने में असमर्थ हो गया। सर्प लहराता हुआ हाथी के समीप आया। हाथी को देखते ही वह मानों जल उठा और उछल कर उसके कुम्भ-स्थल पर ऐसा डंक मारा कि पलभर में सारा शरीर विष से व्याप्त होगया। हाथी ने अपने जीवन का अवसान जान अनशन धारण कर लिया और शरीर के प्रति भी ममता का परित्याग कर समता के सरोवर में अवगाहन करने लगा। उसने विचार किया—'अरिहंत भगवंत मेरे देव है, निर्ग्रंथ मेरे गुरु हैं और जिनेन्द्र-प्रणीत धर्म ही मेरा धर्म है। जन्म-जन्मान्तरों मे मेरी श्रद्धा इसी प्रकार की स्थिर रहे, यही मेरी अन्तिम भावना है।' उसने अठारह पापों का त्याग किया और मनोयोग से संसार के समस्त जीवो से क्षमा प्रार्थना की और अपनी ओर से सब को क्षमा दान दिया। उसने सर्प के प्रति भी क्रोध का भाव न रहने दिया। सोचा संसार में प्रत्येक प्राणी कर्मों के साम्राज्य मे निवास करता है। जो कुछ शुभ या अशुभ, सयोग या वियोग, हानि या लाभ होता है कर्मों के कारण ही होता है। अन्य प्राणी या वस्तु तो कर्मों का हथियार है, निमित्त मात्र है। यथार्थ में तो कर्म ही सुख-दुःख के कारण है। मुझे सर्प ने काटा है पर सर्प तो असातावेदनीय या आयु कर्म का निमित्त कारण है। यदि असातावेदनीय का उदय न होता अथवा आयु का अन्त न आगया होता तो बेचारे सर्प की क्या शक्ति थी जो मेरे रोम का भी स्पर्श करता।

कर्म ही सब अनर्थों के मूल हैं। उनका उन्मूलन करना ही मेरा कर्त्तव्य है। सर्प पर क्रोध करना निरर्थक ही नहीं भविष्य में हानिकारक है। वह भी कर्मों का मारा है। संभव है कभी किसी भव में मैंने उसे कष्ट पहुँचाया हो और उसका ऋण अब तक न चुक पाया हो। आज उस ऋण से मुक्त हो गया। एक भार कम हुआ।' इस प्रकार समता-भाव के साथ विष-वेदना को सहन करके हाथी ने अपना आयु पूर्ण किया।

तृतीय जन्म।

जैसे एक विद्यार्थी लगातार वर्ष भर परिश्रम कर अपनी योग्यता की वृद्धि के लिए प्रयत्न करता है और परिक्षा में उत्तीर्ण होने पर अपने परिश्रम को सार्थक समझता है उसी प्रकार जीवन में दान, पुण्य, सयम, व्रत, सामायिक आदि-आदि जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं उनकी सार्थकता तब होती है जब व्यक्ति मृत्यु के प्रसग पर समता भाव रख कर आगामी भावों को सुधारता है। जीवन में जो धर्म के सुन्दर संस्कार अन्तरात्मा पर अंकित होते जाते हैं उनसे मृत्यु स्वयं सुधर जाती है। हाथी के संबंध में यही हुआ। वह अत्यंत साम्य भाव में तन्मय रहा और मरकर सहस्रार स्वर्ग में सत्तरह सागर की आयुवाला देवता हुआ।

अन्तर्मुहूर्त में अर्थात् ४८ मिनट के भीतर ही वह देव नवयुवक होगया। उनके वैक्रिय शरीर के सौन्दर्य का वर्णन करना अशक्य है। उसका रूप-लावण्य दिव्य ही था। कानों में कुण्डल, मस्तक पर मणिमय मुकुट, भुजाओं में बाजूबन्द, गले में सुन्दर हार, उंगलियों में मुद्रिकाएँ, कटि में स्वर्ण-मेखला, आदि लोको-

त्तर आभूषणों से और देवदूष्य वस्त्रों से उसका दिव्य तेज धारी शरीर अतिशय सुन्दर और मनोहर ज्ञात पड़ता था। उसे उत्पन्न हुआ जानकर वहाँ के आज्ञाकारी देवी-देवता उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े होगये। उन्होंने प्रार्थना की—'आपकी जय हो, विजय हो। हम लोग आपके किंकर देव हैं। आज्ञा-प्रदान कर हमें कृतार्थ कीजिए। वहां का कार्यक्रम समाप्त होने पर वह देव देव-सभा में आता और सिंहासन पर आसीन हो जाता है। आज्ञाकारी देव-देवी उसे अपना स्वामी समझ कर उसके आगे नत-मस्तक होकर खड़े रहते हैं। वे नया स्वामी पाकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। अपने स्वामी का मनोरंजन करने के लिए भांति-भांति के नाटकों का आयोजन करते हैं। हाथी का जीव इस प्रकार दिव्य ऐश्वर्य का उपभोग करता हुआ आमोद-प्रमोद के साथ समय यापन करने लगा। वहाँ के सुखों का समग्र वर्णन करना सागर के जल को नापने का प्रयत्न करना है। देवों का शरीर मनुष्यों के शरीर की तरह रुधिर आदि सप्त धातुमय नहीं होता बल्कि कपूर की तरह होता है। देवता पलक नहीं मारते और पृथ्वी से कम से कम चार अंगुल ऊंचे अवश्य रहते हैं। उनकी आयु जब छः महीने शेष रह जाती है तब उनके गले की फूलमाला कुम्हला जाती है।

वरुणा हस्तिनी भी अपने अन्तिम समय में स्वेच्छा से खाना-पीना त्याग देने तथा तपस्या करने के कारण दूसरे देवलोक में देवीरूप से उत्पन्न हुई। यह देवी अन्य किसी भी देव की आकांक्षा न करके केवल उसी देव पर आसक्त थी जो पहले हाथी के रूप में इसका साथी था। जब देव को इस देवी की प्रेमभावना विदित हुई तो वह उसे अपने साथ सहस्रार स्वर्ग में

ले गया। इस प्रकार देव-देवी मिलकर स्वर्गीय सुखों का संवेदन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

कुर्कट जाति का वह भीषण सर्प मर कर पांचवे नरक मे नारकी हुआ। उसने अपने जीवन मे न जाने कितने प्राणियों का संहार किया था, कितनो को घोर वेदना और त्रास पहुँचाया था। इसके फल-स्वरूप उसे नरक के घोर कष्ट भुगतने पड़े। नरक के दुःखो का वर्णन करने के लिए भाषा असमर्थ है। वहां एक पर एक दुःख निरन्तर ही आते रहते है और वे भी इतने भयंकर कि उनकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते है। वहां पल भर भी कभी शान्ति नही मिलती। नरक की भूमि ही इतनी व्यथाजनक है कि उसके स्पर्श से एक हजार विच्छुओ के एक साथ काटने के बराबर वेदना होती है। इस क्षेत्रजन्य वेदना के अतिरिक्त नारकी आपस मे घोरतर वेदनाएँ एक-दूसरे को देते है और फिर परमाधामी देवता और भी गजब ढा लेते है। इस प्रकार के कष्टो से वचने का उपाय प्राणीमात्र के हाथ मे है। जो विषयो को विष के समान समझकर उनमे अत्यन्त आसक्त नही होता, अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रख कर अपने ममत्व को सीमित कर लेता है, अपना जीवन धर्ममय बनाकर सयम के साथ रहता है वह नरक का भागी नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि विषयों का परित्याग करो। विषयभोग वर्त्तमान मे यद्यपि सुखप्रद प्रतीत होते है पर वह सुख खाज को खुजाने के सुख के समान परिणाम मे घोर दुःख देने वाला है कमठ के जीव ने 'कमठ-जन्म' और 'सर्प-जन्म' मे जो पाप किये उनका फल उसे यह मिला है। पाप के द्वारा आत्माका जो पतन होता है उसका एक उदाहरण कमठ का जीव है।

चतुर्थ जन्म

मोही जीव अपनी गलती हुई आयु की ओर दृष्टिनिपात नही करते। जीवन-घट मे से प्रतिदिन, प्रतिपल, एक-एक बूंद कम होती जाती है पर मोही जीव उसे हर्ष का प्रसंग मानकर उत्सव मनाते है। 'लल्लू आज पांच वर्ष के हो गये है, चलो इनकी वर्ष-गांठ मनाये।' इस प्रकार बड़े आमोद-प्रमोद के साथ वर्ष-गांठ मनाई जाती है पर लल्लू के काकाजी को यह पता ही नही कि लल्लू के जीवन में से एक वर्ष कम हो गया है अतः वर्षगांठ का आनंद मनावे या "वर्ष-घाट' का खेद मनावे ? इस प्रकार वर्ष-गांठ मनाते-मनाते सहसा काल आ पहुँचता है और जीव को गाठ ले जाता है। अतएव भव्यजीवों को चाहिए कि सदा धर्म की आराधना करे—क्षणमात्र भी प्रमाद न करें। देव की सत्तरह सागर की स्थिति भी घटते-घटते अंत मे समाप्त होगई। वह अपने वैक्रिय शरीर को तथा देवलोक के समस्त भोगोपभोगों को छोड़ कर विद्युतगति नामक नृपति की महारानी तिलकावती के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महाविदेह क्षेत्र मे सुकच्छ के बीच वैताढ्य पर्वत पर तिलकापुरी है। विद्युतगति उस पुरी का शासक था। यह सब विद्याधरों का स्वामी था। सब विद्याधरों पर उसका पूर्ण प्रभाव था। विद्युतगति की महारानी तिलकावती सुकुमारी, सुन्दरी, सदाचारिणी और विनम्र थी। मरुभूति का जीव वह देव इसी की कुक्षि मे अवतरित हुआ। नौ मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर उसका जन्म हुआ। उसके समस्त लक्षण महापुरुषों के योग्य देख कर माता-पिता की प्रसन्नता की सीमा न रही। पुत्र जन्म के उपलक्ष्य मे महोत्सव मनाया गया, मुक्त हस्त से

दान-पुण्य किया गया। अनेक कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये। दीन-दरिद्रों को वस्त्र आदि वितीर्ण किये गये। भूखों को भोजन दिया गया। यथोचित संस्कार होने के पश्चात् नामकरण संस्कार किया गया। पुत्र का नाम [1]'करणवेग' रक्खा गया।

करणवेग का लालन-पालन बड़ी सावधानी से हुआ। उसके लिए पाँच धातृमाताएँ नियुक्त की गईं। धाय-माताएँ उसके वस्त्रों की सार-संभाल रखतीं, उन्हें साफ-सुथरा करतीं, खिलातीं और दूध पिलातीं। बालविनोद और बालविकास की सब सामग्री प्रस्तुत थी। विनोद की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की गई थी कि बालक विनोद के साथ-साथ उपयोगी शिक्षाएँ भी ग्रहण करता चले एवं उसकी इन्द्रियों तथा मानस का विकास भी होता रहे। धायें इतनी सुशिक्षित और कुशल थीं कि वे खेलकूद में ही बालक को संयम साहस, उद्योगशीलता और धर्मनिष्ठा का पाठ पढाती थीं। वे धायें आजकल की अनेक माताओं की भांति इतनी निष्ठुर और निर्विवेक न थीं कि अपने आराम के लिए बालकों को अहि-फेन (अफीम) खिलाकर व्यसनी बना डालतीं। उन्हें ज्ञात था कि अफीम खिलाने से बालक की चेतनाशक्ति में जड़ता आजाती है, उनका शरीर अनेक रोगों का आगार बन जाता है और आगे चलकर बालक मद्यपी या भंगेडी गंजेडी बन जाता है। बड़ी उम्र होने पर जो नशेबाज हो जाते हैं उनसे ऐसे बहुतेरे निकलेंगे जिन्हें बचपनसे माताओं की बदौलत ही नशा करने की कुटेव पड़ गई है। समझदार माताएँ इस प्रकार की मूर्खतासे सदा बचती हैं

[1]- कहीं-कहीं 'किरणवेग' नाम का उल्लेख है। देखो हेमविजयगणि का पार्श्वनाथ चरित द्वि० सर्ग।

और अपने प्रिय बालक के जीवन को कदापि मिट्टी में नहीं मिलाती। बालक करणवेग के लिए नियुक्त धायें सदैव इस बात का ध्यान रखती थी और किसी भी हानिजनक वस्तु का सेवन न कराती थी।

बालक करणवेग साढ़े सात वर्ष का हो गया तो महाराज विद्युतवेग ने उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध किया। बालक कुशाग्र-बुद्धि था। थोड़े वर्षों में, अल्प परिश्रम से ही उसने विविध शास्त्रों और कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। राजनीति में वह अत्यन्त निपुण हो गया था। उसे राजनीतिक दाव-पेंच भली-भांति आ गये थे। कठिन उलझी हुई समस्याओं को वह बात की बात में सुलझा डालता था। उसकी राजनीति-निपुणता, उसकी धर्मनिष्ठा और उसके विनम्र स्वभाव को देखकर प्रजा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती और सुयोग्य उत्तराधिकारी पाकर अपने सद्भाग्य की सराहना करती थी। बालक करणवेग अपने माता-पिता आदि आत्मीय जनों के हृदय और नयनों को आनन्द पहुँचाता हुआ धीरे-धीरे द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा।

अब करणवेग ने युवावस्था में प्रवेश किया। उसकी मूंछों की रेख दिखाई देने लगी और कांख में बाल आने लगे। राजा ने करणवेग की युवावस्था देख और उसे सर्वथा विवाह के योग्य समझ कर अपने सामंत राजा की एक सर्वगुण संपन्न सुन्दरी कन्या पद्मश्री के साथ उसका विवाह कर दिया। राजकुमार और उसकी पत्नी ये दोनों आनंदमयी समयको व्यतीत करने लगे।

प्राचीन काल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों को परस्पर बाधा न पहुँचाते हुए सेवन किया जाता था।

अपने उत्तराधिकारी पुत्र के सुयोग्य होने पर पिता अपने उत्तर-दायित्व को पूर्ण हुआ समझ कर पुत्र को कार्य भार सौंप देता और आप निराकुल होकर धर्म की आराधना करता था। तदनुसार महाराज विद्युतवेग ने भी युवराज को सब प्रकार सुयोग्य समझ कर, उसके कंधों पर राज्य का समस्त भार डाल कर निश्चिन्त हो दीक्षा-धारण करने का विचार किया। उसने अपना यह विचार अपने मंत्रियों को कह सुनाया। मंत्री-गण महाराज के धार्मिक विचार से सम्मत हुए। तब उसने युवराज को बड़े प्रेम के साथ अपने पास बुलाया और कहा—"प्रिय वत्स, अब मेरी वृद्धावस्था आ गई है। चार दिनों का मेहमान हूँ। न जाने किस दिन यह जीवन-लीला सहसा समाप्त हो जायगी। अतः बचे हुए इस थोड़े से समय मे मै आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहता हूँ। 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेक रूपा' अर्थात् राजनीति वेश्या की भांति विविध रूपधारिणी है। इसमे छल-बल-कौशल से काम लेना पड़ता है। जो राजा प्रजा के हित का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है उसे अपने आपको भूलकर प्रजा-हित को ही प्रधान समझना पड़ता है। इस उत्तरदायित्व के साथ-साथ निराकुलता पूर्वक आत्म-साधना नहीं हो सकती। अतः मैं अब यह उत्तरदायित्व तुम्हें सौंपना चाहता हूँ। तुम वीर हो, विद्वान् हो, साहसी हो, गुणवान् और परिश्रमी हो। सब प्रकार योग्य हो गये हो। मेरा बोझ कम करो और प्रजा के पालन-पोषण का, रक्षण और शिक्षण का कार्य तुम्हीं सँभालो। मेरे मंत्रिवर्ग तुम्हें हार्दिक सहयोग देंगे। ये अनुभवी हैं, वयोवृद्ध हैं और राजनीति मे पारंगत हैं। इनका सदा सन्मान करना और कदाचित् भूल करने पर भी इन्हें क्षमा करना। बेटा! यह स्मरण रखना कि

राजा और प्रजा का संबंध पिता-पुत्र के समान होता है। राजा केवल ऐश्वर्य भोग या प्रजा पर शासन करने के लिए नही है किन्तु वह प्रजा का पिता है, पहरेदार है, सेवक है और सब कुछ है। राजा के हाथ में न्याय की तुला होती है। न्याय की मर्यादा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है। जैसे परिवार का मुखिया अपने परिवार में किसी को दुखी नही देख सकता उसी प्रकार आदर्श राजा अपने राज्य-परिवार में प्रजा को दुःखी देखकर निश्चिन्त नहीं रह सकता। प्रजा, राजा के लिये नही वरन् राजा प्रजा के लिए होता है। प्रजा के कल्याण के लिए राजा को अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़े तो वह भी अपना कर्त्तव्य समझ कर प्रसन्नता से करना चाहिए।

वत्स! अपने शत्रुओं के साथ भी न्यायपूर्ण व्यवहार करना। न्याय-नीति के लिए शस्त्र ग्रहण करने की आवश्यकता होने पर कायरता दिखलाना जैसे राजा के लिए कलंक की बात है उसी प्रकार निहत्थों पर शस्त्र उठाना, अधर्म युद्ध करना, छल से किसी की हत्या करना भी राजा के लिए कलंक है। अपने देश की रक्षा करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहना। मातृभूमि का अपमान सहन करने से पहले मर मिटना अपना कर्तव्य समझना। सदाचारी सत्पुरुषों की संगति करना। सातों कुव्यसनों से सदैव अपनी रक्षा करना। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों मे जो बड़ी हों उन्हें माताके समान, जो बराबर हों उन्हें भगिनी के समान, और जो कम आयु की हो उन्हें पुत्री के समान समझना। मेरी इन अन्तिम बातों को सदा स्मरण रखोगे और इनका पालन करोगे तो, बेटा! तुम यशस्वी और तेजस्वी शासक बनोगे और अपने कुटुम्ब की परम्परागत निर्मल कीर्ति और मर्यादा को अक्षुण्ण

रखोगे । अधिक क्या कहूं तुम स्वयं विद्वान् और विवेकवान् हो ।

इस प्रकार उपयोगी शिक्षा देकर राजा विद्युतवेग ने युवराज करणवेग के कंधो पर समस्त राज्य भार रखदिया । युवराज की अनुमति लेकर उसने भी श्रुतसागर मुनि के पास जिनदीक्षा धारण करली । राजा विद्युतवेग अब कंचन-कामिनी के त्यागी, ब्रह्मचारी मुनिविद्युतवेग के नाम से प्रख्यात हुए । दीक्षा लेते ही उन्होने उग्र तप आरम्भ कर दिया । उग्र तपस्या के द्वारा उन्होने समस्त कर्मों का अन्त कर मोक्ष-धाम की ओर प्रयाण किया । वे सदा के लिए सांसारिक बन्धनो पर विजय प्राप्त कर सिद्ध बुद्ध हो गये ।

राजा करणवेग न्याय-नीति के साथ राज्य करने लगा । उस के सुशासन मे प्रजा अत्यन्त संतुष्ट, सुखी और समृद्ध है । राजा शक्तिशाली अवश्य है पर उसकी शक्ति अन्याय के प्रतीकार मे, दीन-हीनो की रक्षा में, स्वदेश की सेवा मे लगाती है, दूसरो को हानि पहुँचाने मे नही । राजा दानी है पर प्रशंसा से कोसो दूर रहता है । वह क्षमाशील है, कायर नहीं है । उदार है, उड़ाऊ नही । वह सबकी सुनता है पर कान का कच्चा नही है । वह विद्वान् है पर दूसरों का अपमान नहीं करता । वह प्रजा के लिए प्राणोत्सर्ग करने को तैयार रहता है और प्रजा भी उसके पसीने के स्थान पर अपना रक्त बहाने को उद्यत रहती है ।

करणवेग की पत्नी उसके अनुरूप है । राजा जैसा धर्मनिष्ठ है, रानी भी वैसी ही धर्मशीला है । अनुरूप पत्नी की प्राप्ति पुण्य के उदय से होती है । अन्यथा पति-पत्नी की प्रकृति मे प्रतिकूलता होने से दोनों का जीवन अशान्तिमय, क्लेशकर और भार रूप हो जाता है । पति एक ओर जाता है तो पत्नी दूसरी ओर जाती है । ऐसा होने से गृहस्थी की गाड़ी ठीक तरह नहीं चल सकती ।

इसके लिए दोनों पहिये बराबर हों तभी काम चल सकता है। जहां पत्नी और पति में सदा मतभेद और क्लेश रहता है वहां संतान भी असहिष्णु, चिड़चिड़ी, लड़ाकू और दुर्गुणी होती है। उस घर से लक्ष्मी भी रूठ कर जाती है। अतः दम्पति में परस्पर मतैक्य, सहिष्णुता, सद्भाव और पवित्र प्रणय का होना आवश्यक है। महाराज करणवेग को ऐसी गुणवती पत्नी प्राप्त हुई कि उनका जीवन आनंद और शान्ति के साथ व्यतीत होने लगा। दोनो मे क्लेश और कदाग्रह का कभी अवसर न आता था। एक-दूसरे को देख-देख कर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। पद्मश्री सचमुच पद्मश्री थी। खिले हुए कमल की शोभा के समान उसके मुख-मण्डल पर सदा श्री का विलास होता रहता था।

कुछ दिनों बाद महारानी पद्मश्री की कोंख से एक पुत्ररत्न ने जन्म ग्रहण किया। उसका नाम धरणवेग रक्खा गया। इसके लालन-पालन के लिये भी धातृकार्य में कुशल धाय नियुक्त की गई। बालक क्रमशः बढ़ने लगा और अपनी वृद्धि के साथ ही साथ अपने माता-पिता के हर्ष की भी वृद्धि करने लगा।

उन्हीं दिनो श्रीविनयाचार्य, धर्मप्रचार की पवित्रतम भावना से प्रेरित होकर यत्र-तत्र विहार करते हुए, जगत् के संतप्त प्राणियों को अक्षय सुख का मार्ग दिखलाते हुए विचरते थे। आचार्य महाराज एक दिन राजा करणवेग की राजधानी तिलकपुरीके उद्यानमे पधारे। उद्यानपाल ने आचार्य के शुभागमन का संवाद राजा के पास पहुँचाया। यह संवाद पा राजा के हृदय की कली-कली खिल गई। वह शीघ्र ही आचार्य महाराज की सेवा मे उपस्थित हुआ। यथाविधि वन्दना-नमस्कार करके यथास्थान बैठा और आचार्य से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! आपको कष्ट न

हो तो अपने पुण्य उपदेश से इस सेवक को कृतार्थ कीजिए। चिरकाल से आपके सुधासिक्त सदुपदेश के लिए लालायित हूँ। धन्य भाग्य हैं जो आज आपका संयोग पाया'। श्री विनयाचार्य ने राजा की प्रार्थना अंगीकार करके उपदेश देना आरंभ किया। वे बोले—

संसार अनादि और अनन्त है। जीव भी अनादि-निधन है। जीव की न कभी उत्पत्ति होती है न विनाश होता है। केवल पर्यायों मे परिवर्तन होता रहता है। जीव एक शरीर को ग्रहण करता, उसे त्यागता और फिर नवीन शरीर को ग्रहण करता है। यह क्रम सदा से चला आ रहा है और जब तक सिद्धि प्राप्त नही होती तब तक चलता रहेगा। एक शरीर अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक स्थिर रह सकता है, यों इसका कोई ठिकाना नहीं। जन्म-मरण की विविध वेदनाएँ इसने अनन्त बार भुगती हैं, भुगत रहा है। देव मर कर पशु हो जाता है और पशु मरकर देवता बन जाता है। इस प्रकार जीव ने पृथ्वी, जल आदि एकेन्द्रिय रूप मे, लट आदि द्वीन्द्रिय रूप में, चिऊँटी-कीड़ी आदि त्रीन्द्रिय रूप मे भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय रूप में, और पत्नी पशु आदि पंचेन्द्रिय रूप मे अनगिनती बार जन्म धारण किया है। भटकते-भटकते प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है। यह मानव-तन आत्मा को परमात्मा, नर को नारायण बनाने मे सहायक हो सकता है। पर जो जीव इस दुर्लभ अवसर को पाकर विषयभोगों मे गृद्ध रहते है वे चिन्तामणि रत्न को काच की कीमत पर बेच कर अपनी घोर मूढ़ता का परिचय देते है। असीम सागर मे डूबता हुआ कोई मनुष्य यदि जहाज को छोड़कर पत्थर की शिला पर आरूढ़ होने की

इच्छा करे तो वह विवेकी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संसार-सागर में डूबने वाला प्राणी धर्म-सेवन का परित्याग कर विषयोपभोग में रत होता है तो वह भी विचारवान् नही कहला सकता। कोई चिन्तामणि पाकर कौवे उड़ाने के लिए उसे फैंकदे तो आश्चर्य की बात है। हे भद्र, इस पौद्गलिक, विषमय और क्षणिक सुख के मोह में पड़कर मोक्ष के असीम और शाश्वत सुख को खो बैठना कौन-सी बुद्धिमानी है? देखो—

जहा कांगणि हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपच्छं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए॥

—निर्ग्रन्थ-प्रवचन

अर्थात् कुछ व्यापारी व्यापार के लिये विदेश गये। वे सब हजार-हजार मुहरे कमा कर घर की तरफ लौटे। लौटते समय मार्ग में उन्होने किसी जगह भोजन-सामग्री खरीद कर भोजन बनाया। भोजन करने के पश्चात् एक व्यापारी ने दाल-आटे का हिसाब लगाया। उसे मालूम हुआ कि दूकानदार ने एक दमड़ी कम लौटाई है। वह अपने साथियों से बोला—'भाइयो, जरा ठहरिये। दूकानदार ने हम लोगों को ठग लिया है, एक दमड़ी कम लौटाई है।' उसकी बात सुन साथी बोले— 'अरे दमड़ी में क्या धरा है? एक दमड़ी चली जाने से हम कंगाल तो हो न जाएँगे! वह भी एक दमड़ी से लखपति न बन जाएगा। इतने के लिए अपना समय क्यों गँवाएँ?' पहला व्यापारी कहने लगा— 'भाई वाह, तुम भी कैसे वणिक् हो? 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय' यह तो वणिक्-शास्त्र का आदर्श-वाक्य है। इसे भूल जाओगे तो काम कैसे चलेगा? मै तो हर्गिज दमड़ी न जाने दूँगा।'

इतना कह कर वह दूकानदार के पास चला गया। उसके साथियों ने देखा कि यह लोभी व्यर्थ समय नष्ट कर रहा है तो वे अपने रास्ते लगे।

लोभी दूकानदार के पास पहुँचा। आटा-दाल का बारीकी से हिसाब लगाया और दमड़ी वापस मांगी। दूकानदार ने जब दमडी लौटादी तो वह बड़ी प्रसन्नताके साथ—जैसे कोई खजाना मिल गया हो—अपने साथियों की ओर चला। साथी आगे निकल गये थे। रास्ता जंगल का था। सोचा जल्दी-जल्दी पैर उठा कर उन्हें पकड़ लूंगा। वह अकेला साथियों के मिल जाने के बल पर जंगल में चल पड़ा। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चला त्यों त्यों जंगल अधिक बीहड, भयंकर, सुनसान और सघन वृक्षों से आच्छादित आने लगा। अकेला वणिक मारे भय के कांप रहा था। श्वास फूल रहा था। प्राणों के साथ-साथ मोहरों का मोह कम न था। चल क्या रहा था—मानों भागा जाता था। दैववश लुटेरों का एक गिरोह बटोहियों की ताक मे बैठा हुआ था। अकेला मालदार वणिक् पाकर उन्होने उसे आसानी से लूट लिया। वणिक् रोता-पछताता जान बचाकर घर की ओर भागा। तात्पर्य यह है कि एक दमड़ी के लिये लुब्ध वणिक् ने गांठ की हजार मोहरें गंवादीं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो इस वणिक् की लालसा पर हँस न दे? पर सच यह है कि समस्त विषयी प्राणी इस वणिक् की कोटि के है। जो लोग क्षणिक विषय-सुख रूपी दमड़ी के लिए मुक्ति के निरतिशय आनंदरूपी मुद्राओं को गँवा रहे है वे क्या उस वणिक् से अधिक विवेकशील हैं? और सुनो—

एक राजा को असाध्य रोग हो गया। राजा को चिकित्सकों

और औषधियों की क्या कमी ? बड़े-बड़े वैद्य आये । मूल्यवान् औषधियां की गईं पर कोई भी कारगर न हुई । एक बार एक आयुर्वेद-विशारद प्रसिद्ध वैद्य ने ध्यानपूर्वक राजा की नाड़ी देखी तब कुछ सोचकर वह बोला— 'महाराज! कुछ दिनों तक मैं आपको औषधि दूंगा। आप उसका यथाविधि सेवन कीजिए। राजा ने वैसा ही किया। थोड़े ही दिनों बाद वह स्वस्थ हो गया। वैद्य ने कहा—'महाराज, अब यह रोग आपको कभी न होगा। मगर एक पथ्य आप सदा पालन कीजिए-आम कभी न खाइए' राजा बोला—'वैद्यराज, आम खाने की तो बात ही क्या है, मैं कभी आम की छाया तक में न बैठूंगा।' फाल्गुन महीने की यह बात थी। साढ़े तीन महीने बीत गये।

एक बार राजा अपने मंत्री के साथ घूमने-घामने के लिये निकला। धूप कड़ी पड़ रही थी। आसमान से सूर्य आग बरसा रहा था और नीचे ज़मीन तवे की तरह तप रही थी । राजा ने मंत्री से कहा—'मंत्री जी! धूप और गर्मी के मारे प्राण निकले जा रहे हैं। आसपास किसी सघन वृक्ष की शीतल छाया में चल कर विश्राम करें।' मंत्री ने दूर तक दृष्टि दौड़ाई पर एक आम्र-वृक्ष के अतिरिक्त और कोई वृक्ष दिखाई न दिया । मंत्री ने कहा—'महाराज, आसपास में तो विश्राम करने योग्य कोई वृक्ष नज़र नहीं आता।'

राजा—क्या गर्मी के कारण तुम्हारी आंखें जवाब दे गईं ? देखो, वह क्या एक सघन वृक्ष दिखलाई दे रहा है ?

मंत्री—जी नहीं, वह तो मैंने भी देखा है पर वह विश्राम करने योग्य नहीं है। वह आम का वृक्ष है, आप उसके नीचे तो बैठेंगे नहीं।

राजा—मंत्री, वैद्य ने केवल आम्र-फल खाने का निषेध किया है। उसकी छाया में न बैठने की विशेषता तो पथ्य-पालन की दृढ़ता को सूचित करने के उद्देश्य से मैंने अपनी ओर से जोड़ दी थी। वास्तव में उसकी छाया के नीचे बैठ जाने मे कोई हानि नहीं है।

राजा का उत्तर सुन मंत्री चुप हो गया। दोनों आम की ओर बढ़े और उसी पेड़ के नीचे विश्रान्ति करने लगे। उन्हें आये थोड़ा ही समय हुआ था कि एक सुन्दर सुपक आम्रफल राजा के सामने कुछ दूरी पर आ गिरा। राजा ने कहा—मंत्री जी, मुझे भली भांति पता है कि आम खाना मेरे लिए अपथ्य है। वह मुझे पुनः संकट में डाल देगा। परन्तु उसे देखना और सूंघना तो निषिद्ध नहीं है। लाओ जरा इस आम को देखूं-सूंघूं।

राजा की आज्ञा भला कौन टाले? मंत्री चुपचाप उठा, आम लाया और राजा को पकड़ा दिया। राजा ने आम सूंघा तो मुँह मे पानी आगया। मंत्री से कहा इसके ऊपर के छिलके उतारो। मत्री ने छिलके उतार दिये। राजा ने कहा—फांके करो। मंत्री ने फांके करदी। राजा बोला—फांके मेरे हाथ पर रखदो। मंत्री ने हाथ पर रखदी। तब राजा ने तर्क का उपयोग किया। कहा देखो मत्री, वैद्य का आशय यह था कि आम को पेट मे न उतरने देना चाहिए। मैं इन फांकों को मुँह मे रखकर मल-मलाकर थूक दूंगा। पेट मे न उतरने दूँगा। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। चिंता तो मुझे अपनी है ही। इतना कहकर राजा ने आम की फांकें मुँह मे रखली। फिर क्या था? लोलुप जिह्वा मधुर आम्र के स्वाद को कैसे छोड़ती? वह जिह्वा का गुलाम राजा अन्त मे आम को निगल ही गया। आम खाते ही वैद्य के

कथनानुसार फिर वही भीषण रोग उत्पन्न होगया। अब की उस रोग का अन्त तब हुआ जब राजा के प्राण-पखेरू उड़ गये।

आम की दो-चार फाँकों के समान मधुर प्रतीत होने वाले संसार के जघन्य और तुच्छ विषय-भोगों में फँस कर संसारी जीव मोक्ष के सुखों से वंचित हो जाते हैं। इसलिए राजन्! इस अनमोल अवसर को हाथ से न जाने दीजिए। समय रहते अपनी आत्मा के लोकोत्तर कल्याण के लिए प्रयत्न कीजिए। साधु-धर्म को धारण कीजिये और यदि इतना सामर्थ्य या साहस न हो तो श्रावकधर्म को तो अंगीकार अवश्य कीजिए। दोनों में से एक को ग्रहण करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है, क्योंकि धर्म ही मनुष्य का सच्चा सखा और सहायक है। मृत्यु अवश्यंभावी है और मृत्यु के पश्चात् धर्म ही साथ देगा। तुम्हारा यह विशाल साम्राज्य स्नेही स्वजन और धन से परिपूर्ण खजाना—सब कुछ यहीं रह जायगा। अतः दीर्घ दृष्टि से विचार करो और भविष्य का साथी खोजलो।"

आचार्य महाराज के इस भावपूर्ण एवं गंभीर उपदेश का प्रभाव राजा पर भी हुआ और अन्य श्रोताओं पर भी। अनेक श्रोताओं ने श्रावक के व्रत अंगीकार किये। राजा करणवेग संसार से पूर्ण विरक्त हो गया। उसे इस निस्सार संसार का असली स्वरूप दिखाई देने लगा। वह बोला—'भंते! आपके पावन उप-देश रूपी अमृत-अंजन से मेरे नेत्र खुल गये हैं। अब तक मुझे वह निर्मल दृष्टि प्राप्त न थी। मेरे समक्ष अब यह संसार ही जैसे बदल गया है। मुझे यह बड़ा रौद्र प्रतीत होता है। मैं साधु-धर्म को स्वीकार कर आपके चरण-कमलों का आश्रय लेना चाहता हूँ।'

राजा करणवेग घर लौट आया और अपने पुत्र युवराज धरणवेग को राज-काज सौंप कर, यथायोग्य शिक्षा देकर, प्रजा से विदाई लेकर पुनः आचार्य श्री की सेवा में आ उपस्थित हुआ। मुँह पर मुँहपत्ती बांधी। चोलपट्ट पहना। चादर ओढी। कांख में रजोहरण दबाया। हाथ में पात्रों की झोली लेली। इस प्रकार साधु वेष धारण कर के गुरुदेव को यथाविधि वन्दना की, नमस्कार किया। गुरुदेव ने आजन्म पंच महाव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा कराई और दीक्षित कर लिया। दीक्षित होने के अनन्तर मुनि करणवेग गुरु-सेवा में तन्मय हो गये। विनयपूर्वक ज्ञान सम्पादन किया। फिर कर्म-रिपुओं का संहार करने के लिए तपस्या की तलवार सँभाली। पारणे के दिन कठिन अभिग्रह करते रहे। इस प्रकार उग्रतर तपस्या करने के कारण करणवेग मुनि का शरीर कृश हो गया।

एक वार करणवेग मुनि अपनी लब्धि के वल से विचरते हुए उसी भयंकर वन मे स्थित हेमगिरि पर्वत पर जा पहुंचे, जहां कमठ का जीव मर कर कुर्कट जाति के भयंकर विषैले सांप के रूप मे उत्पात मचा रहा था। उसका विष इतना उग्र था कि उसकी फुंकार से ही आस पास की घास और वृक्ष सूख गये थे। उसी जंगल मे पहुँच कर करणवेग मुनि (भावी पार्श्वनाथ) ने कायोत्सर्ग किया। वे निश्चल शरीर और निश्चल मन से ध्यान मे मग्न हो गये। वह साँप वहां आया और सरसराता हुआ मुनि के शरीर पर चढ़कर उससे लिपट गया। फिर ऐसे जोर से डंक मारा कि मुनि का समस्त शरीर विप से व्याप्त हो गया। किन्तु प्रथम तो मुनि ध्यान-मग्न थे, फिर प्राणान्तक उपसर्ग आ गया। अतः उन्होंने आत्म-ध्यान से तनिक भी विचलित न होते

हुए समता भाव स्थिर रक्खा। अन्त में प्राणीमात्र से हर्दिक क्षमाप्रार्थना की और समता भाव में ही देह त्याग दिया।

पाँचवां जन्म

देहावसान के अनन्तर वे बारहवे देवलोक मे २२ सागरोपम की आयु के धारक देव हुए।

मरुभूति का जीव जब हाथी के भव मे था तब कमठ का जीव सर्प हुआ था। मरुभूति का हाथी पर्याय वाला जीव सहस्रार स्वर्ग में १७ सागरोपम की आयुवाला देव हुआ और वहां से च्युत होकर करणवेग हुआ। इसके वाद फिर सर्प ने उसे काटा और वह अब की बार बारहवे देवलोक मे देव हुआ। इस वृत्तान्त से पाठकों को यह संशय हो सकता है कि सर्प तब तक क्या सर्प ही बना रहा? सर्पकी आयु इतनी नही होती है फिर उसने मुनि करणवेग को कैसे काटा? इसका समाधान यह है कि पहला कुर्कट जाति का सर्प मर कर पांचवें नरक मे उत्पन्न हुआ था, यह पहले कहा जा चुका है, पांचवें नरक की स्थिति भी सत्तरह सागर की है अतः सहस्रार स्वर्ग की सत्तरह सागर की आयु भोगकर हाथी का जीव जब करणवेग हुआ लगभग उसी समय पांचवे नरक की सत्तरह सागर की आयु समाप्त कर कमठ का जीव फिर दूसरी बार उसी जगह और उसी जाति का विषैला सर्प हुआ। अतः यह न समझना चाहिए कि सर्प एक ही पर्याय मे इतने समय तक बना रहा।

कुर्कट सर्प अब की बार मर कर छठे नरक मे गया। नरक की वेदनाओं के विषय मे पहले किञ्चित दिग्दर्शन कराया गया

है। सच है—किये हुए कर्मों से भोगे विना छुटकारा नहीं मिल सकता। जिसने जैसे कर्मों का उपार्जन किया है वह वैसे ही फल भी पाता है। जैसे नीम बोने पर आम नहीं मिलते उसी प्रकार पाप कर्म करके सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः जो सुख की अभिलाषा रखते हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं उन्हें अपने कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देना चाहिए तथा पापजनक कार्यों का परित्याग कर पुण्य-जनक कार्यों को अपनाना चाहिए। यदि तुम सुख चाहते हो तो दूसरों को सुख उपजाओ। सुखी बनने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कुर्कट सर्प ने न जाने कितने प्राणियों के प्राण हरण किये, न जाने कितनों को त्रास दिया और भयभीत किया। उसका फल उसे भोगना पड़ा। वह छठे नरक मे नारकी रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे भूख-प्यास की, क्षेत्र-जन्य और नारकी जन्य घोर से घोर वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। दूसरी ओर मरुभूति के जीव को देखिये। वह क्रमशः अधिकाधिक सुखों का भोक्ता बनता जा रहा है, क्योंकि उसकी धर्माराधना भी क्रमशः बढ़ती जाती है।

छठा जन्म

मरुभूति का जीव बाईस सागर की आयु समाप्त कर स्वर्ग से च्युत हुआ और विश्वपुर के राजा वज्रवीर्य की रानी की कुक्षि मे अवतरित हुआ। रानी ने शुभ स्वप्न देखे। नव महीने और साढ़े सात दिन के पश्चात् राजकुमार का जन्म हुआ। राजा और परिवार की प्रसन्नता का पारावार न रहा। पुत्र जन्म के हर्ष के उपलक्ष में अनेक लोकोपकारी संस्थाओं का उद्घाटन किया

गया। बारहवें दिन अशुचि कर्म से निवृत्त होने पर पुत्र का नाम 'वज्रनाभ' रखा गया। वज्रनाभ का शैशवकाल अत्यन्त स्नेह और लाड़-प्यार से बीता। यथासमय कला-आचार्य से उसने अस्त्र-शस्त्र और शास्त्रों का अध्ययन किया और उनमें पूर्ण निपुणता प्राप्त की। यौवन-अवस्था में बंग देश के राजा चन्द्रकान्त की सुन्दरी और सुलक्षणा कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार हो गया। वज्रनाभ आमोद-प्रमोद के साथ सॉसारिक सुखों का आस्वादन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

एक बार वज्रनाभ के मामा का पुत्र कुबेर अपने घर से रुष्ट होकर वज्रनाभ के पास आया। कुबेर कट्टर नास्तिक था। वह कभी-कभी अवसर पाकर वज्रनाभ के सामने जैनधर्म की निन्दा करने लगा। वज्रनाभ गंभीर प्रकृति का था। कुबेर अपने घर से रुष्ट होकर आया था और उसे सान्त्वना की आवश्यकता थी। सम्भवतः इस कारण अथवा उचित समयकी प्रतिक्षा करनेके कारण वज्रनाभ ने मौन रहना ही उचित समझा। उसने विचार किया किन्ही मुनिराज के आने पर कुबेर की सब शंकाओं का समाधान हो जायगा। यद्यपि वज्रनाभ कुबेर की शंकाओ का निरसन करने मे समर्थ था फिर भी मुनिराज से समाधान कराने का उसने विचार किया। इसका एक प्रबल कारण और भी था। चारित्र-हीन ज्ञान न तो इतना ठोस होता है न उसमे दूसरो पर प्रभाव डालने का विशिष्ट सामर्थ्य ही। चारित्र स्वयं एक अमोघ शक्ति है और वह ज्ञान को भी सामर्थ्य-सम्पन्न बनाता है। यही कारण है कि ज्ञान का फल चारित्र कहा गया है। जब तक चारित्र नही होता तब तक ज्ञान को अपूर्ण और अफल माना गया है। वज्रनाभ ने चारित्र की इस महत्ता को समझकर कुछ समय और

टाल देना ही उचित समझा।

संयोगवश कुछ ही दिनों में लोकचन्द्र नामक एक ज्ञान और चारित्र के धारी मुनिराज अपने शिष्य-वृन्द के साथ विचरते हुए इधर आ निकले। वे नगर से बाहर एक उद्यान मे ठहरे। मुनिराज के शुभागमन का वृत्तान्त जब नगर मे पहुँचा तो जनता की टोलियां की टोलियां मुनिराज के पावन दर्शन और हितकारी सदुपदेश को श्रवण करने के निमित्त उमड़ पड़ी। महाराज वज्रवीर्य भी युवराज वज्रनाभ और कुबेर को साथ लेकर मुनिराज की शरण मे पहुँचे। सब लोग यथाविधि वन्दन-नमन कर यथास्थान बैठ गये। मुनि महाराज ने उपदेश देना आरंभ किया। बोले—

भव्यो, आत्मा स्वभाव से सिद्ध, बुद्ध और ज्ञानादि गुणो से समृद्ध है, किन्तु इसकी परिणति विभाव रूप हो रही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय–इन आठ कर्मों के कारण बंधन मे बँधा हुआ यह आत्मा, संसार मे अर्थात् नाना योनियो मे जन्म-मरण के तथा अन्यान्य प्रकार के घोर कष्ट सहन कर रहा है। रंक हो या राजा, सधन हो या निर्धन, सबल हो या निर्बल, कुलीन हो या अकुलीन, सभी को समान रूप से कर्म, पीड़ा पहुँचाते है। इनका शासन निष्कंटक है, कोई उसका अपवाद नहीं है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। परन्तु दृष्टि विकृत होनेके कारण प्रयत्न विपरीत करता है। सांसारिक पदार्थों मे सुख की गवेषणा करने से परिणाम मे दुःख ही प्राप्त होता है। सच्चा सुख तो आत्मा मे ही विद्यमान है। सुख, आत्मा का ही एक अस्तित्व रूप गुण है। अत वह आत्मा को छोड़ कर अन्यत्र नही रह सकता। अतएव सच्चे सुख के

अभिलाषी को आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहिए। मोह आदि विकार ज्यों-ज्यों शान्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों कर्मों की शक्ति का ह्रास होता जाता है और ज्यों-ज्यों कर्मों की शक्ति क्षीण होती है, त्यों-त्यों आत्मिक आनन्द का अविर्भाव होता जाता है। अन्त मे आत्मा जब अपनी साधना द्वारा सर्वथा वीतराग और निष्कर्म होता है, तो अनन्त सुख का सागर उमड़ पड़ता है। ज्ञानी जनों ने स्वयं यह साधना की है, और उसका उपदेश भी दिया है। साधना के विकासक्रम को भी उन्होंने सर्वविरति और देश-विरति विकल्पों द्वारा समझाया है। भव्य जीवो! आप लोग अनादिकाल से इस मोह के प्रपंच में फँसे हैं। अब आपको इस प्रपंच से निकलने की पूर्ण सामग्री प्राप्त है। अतः ऐसा प्रयत्न करो, कि शाश्वत सुख की प्राप्ति हो।

मुनिराज का उपदेश सुनकर, लोग अत्यन्त आनंदित हुए। कुबेर यह उपदेश सुन रहा था। वह कहने लगा—वृथा समय वर्बाद हुआ। मुनिजी ने जो कुछ भी कहा, सब मिथ्या है, कल्पना मात्र है। मुनिजी का सारा उपदेश, आत्मा को केन्द्र बना कर चला है। पर वास्तव मे आत्मा कुछ है ही नही। होता तो घट-पट आदि पदार्थों की भांति वह इन्द्रियगोचर क्यों न होता? कभी किसी ने आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं किया। फिर कैसे उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाय? यह जो पुतला दिखाई दे रहा है, सो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पाच भूतो के संयोग से वना है। मरने पर पांचों भूत अपनी-अपनी जाति मे मिल जाते है, और सारा खेल खतम हो जाता है। न कहीं पर-लोक है, न परलोक मे जाने वाला कोई पदार्थ ही है। ऐसी अवस्था में दान-पुण्य, धर्म-कर्म, जप-तप आदि क्रियाएँ केवल

काय-क्लेश ही उत्पन्न करती है। ये निष्फल है। प्राप्त सुखों को अधिक से अधिक भोग लेना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

कुवेर की सब बातें मुनिराज ने बड़ी शान्ति के साथ सुनीं। जब वह कह चुका, तो मुनिराज बड़ी गंभीरता से मधुर स्वर में बोले—भाई कुवेर, तुम जो कह रहे हो, इस पर गंभीरता से तुम ने विचार नहीं किया जान पड़ता। तुम्हारी आद्योपान्त सभी बातें अप्रामाणिक और भ्रान्तिमूलक हैं। जिसे तुमने अभी पुतला कहा है, यह यदि घट-पट आदि पदार्थों की भांति जड़ है, तो जानना, देखना, सुनना, बोलना आदि चेष्टाएँ-जो अन्य जड़ पदार्थों मे कदापि नहीं होतीं, इसमे कैसे होती हैं? यदि जड़ होने पर भी, यह चेष्टाएँ इस पुतले मे होती है तो अन्य पदार्थों मे क्यों नहीं होतीं? जड़ वस्तु में जानने-देखने की क्रिया नही होती। यह शरीर यदि केवल जड़ है, तो इसमे भी यह क्रियाएँ न होतीं। पर इन क्रियाओं का अस्तित्व अनुभव-सिद्ध है। अतः यह भी प्रमाणित है, कि शरीर मे जानने-देखने की क्रिया का कर्ता जड़ के अतिरिक्त और ही कोई पदार्थ है। वही पदार्थ आत्मा है। यदि य; कहो, कि जानने-देखने की क्रिया आत्मा नहीं करता किन्तु इन्द्रियां करती हैं, और इन्द्रियाँ भौतिक है अतः आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। सो यह कथन भी ठीक नही है। हमारे अन्दर कुछ ऐसी भी क्रियायें है जिन्हें करना इन्द्रियों की शक्ति से बाहर हैं। उदाहरण के लिए स्मृति को लो। जिस वस्तु को तुमने देखा है; सुना है, वा अनुभव किया है, उसका तुम्हें समय-समय पर स्मरण आया करता है। बताओ यह स्मरणज्ञान किस इन्द्रिय से होता है? पाँच इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को ग्रहण करती हैं। स्मरण इन सब से भिन्न है।

वह किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता। अतः इन्द्रियों के अतिरिक्त और ही कोई स्मरण-कर्त्ता होना चाहिए। वही आत्मा है।

और सुनो। यदि इन्द्रियां ही जानने-देखने की क्रिया करती हैं तो मुर्दा क्यों नहीं जानता-देखता ? भौतिक इन्द्रियां तो उसके प्राय ज्यों की त्यों बनी रहती है ? इससे भी यही जान पड़ता है कि ज्ञाता-द्रष्टा कोई और ही था जो अब नही रहा है।

पांच भूतो से चेतना की उत्पत्ति कहना भी भ्रममूलक है। जलते हुए चूल्हे पर जब दाल-भात पकाया जाता है तब वहाँ पांचों भूत विद्यमान रहते है। दाल-भात पृथ्वी है, पानी विद्यमान् है, अग्नि का अस्तित्व है, वायु मौजूद है और आकाश तो सर्व-व्यापक होने से है ही। इस प्रकार वर्तन मे पांचों भूतों का अस्तित्व होने से उसके भीतर से आपका कहा हुआ 'पुतला' क्यों नहीं निकल पड़ता ? थोड़े समय के लिए यह मान लिया जाय कि पञ्च भूत ही चेतना की उत्पत्ति के कारण है तो यह भी बताइए कि वे उपादान-कारण है या निमित्त कारण है ? उपादान कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे सूत उपादान कारण है और वस्त्र उपादेय अर्थात् कार्य है। तो जैसा सूत होगा वैसा ही वस्त्र बनेगा। यह कभी नहीं हो सकता कि उपादान कारण अन्य प्रकार का हो और कार्य अन्य प्रकार का। इस सर्वसम्मत न्याय-सिद्धान्त के अनुसार भूतों के अनुरूप ही चैतन्य उत्पन्न होगा। अतः पृथ्वी मे जो कठिनता है वह चैतन्य मे आएगी। पानी की तरलता, अग्नि की उष्णता, वायु की गतिशीलता और आकाश की व्यापकता या शब्दवत्ता भी चैतन्य मे आनी चाहिए। पर यह प्रतीति-विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त जो गुण उपादान कारण मे नही होते वे उपादेय मे भी

नही आ सकते। ज्ञान और दर्शन शक्ति पूर्व कथनानुसार भूतों मे नही है अतः चेतन में भी न होनी चाहिए। इससे यह मालूम होता है कि भूत चेतना के प्रति उपादान कारण नहीं है।

भूतों को चेतना का निमित्त कारण मानना भी असंगत है। भूत यदि निमित्त कारण है तो उपादान कारण क्या होगा ? विना उपादान कारण के कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। आप पांच भूतों के अतिरिक्त और तो कोई वस्तु मानते नहीं और उनको जब निमित्त कारण मान लिया तो उपादान कारण कुछ भी न रहा। जब उपादान कारण ही नही तब निमित्त कारणों से कार्य होगा कैसे ? कुंभार मौजूद हो, चक्र हो, डंडा हो, सूत हो, पर बिना मिट्टी रूप उपादान के घट नही बन सकता। इसी प्रकार चूल्हा हो, तवा हो, अग्नि हो, पाचक हो, सब निमित्त कारण विद्यमान हों फिर भी आटे के बिना रोटी नही बन सकती। इस प्रकार भूतों को निमित्त कारण मानने से भी आप चेतना की उत्पत्ति सिद्ध नहीं कर सकते। अतएव आत्मा भूतो से उत्पन्न नहीं होता है। वह नित्य है, अजर-अमर है। यह बात भी युक्ति से सिद्ध की जाती है पर अभी तो सामान्य रूप से आत्मा को ही समझाना है।

एक बात और कहलूं। यदि आत्मा भूतों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है तो मृत्यु क्या चीज है ? कौन मरता है ? क्यो मरता है ? कैसे मरता है ? इसपर भी तनिक विचार करो। तुम्हारे कथनानुसार पांच भूत ही सब कुछ हैं तो मुर्दा निश्चेष्ट क्यों होजाता है ? यदि कहो कि उसमे से तेज और वायु तत्त्व निकल जाते है तो ठीक नही। मुर्दे मे प्रयत्नपूर्वक वायु भरी जा सकती है और तेज भी भरा जा सकता है। क्या इन दोनों के भरने से मृतक जीवित

हो जायगा ? यदि नही, तो स्वीकार करो कि वह कोई निराली वस्तु है जिसके सद्भाव में प्राणी जीवित कहलाता है और अभाव में मृतक कहलाता है। वही निराली वस्तु आत्मा है। इन सब युक्तियों से आत्माका अस्तित्व भली भांति समझा जा सकता है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि आत्मा का उत्पादक कोई कारण नही है। जिसका उत्पादक 'कोई कारण नहीं' होता और जिसका अस्तित्व होता है वह वस्तु नित्य होती है। न्यायशास्त्र में कहा है—'सदकारणवन्नित्यम् ।' इस न्याय से आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। जब आत्मा नित्य है और वह एक ही पर्याय में सदा नही रहती तो दूसरी पर्याय में अवश्य जानी चाहिए। आत्मा का एक पर्याय त्याग कर दूसरी पर्याय में जाना ही परलोक-गमन कहलाता है। अतः आत्मा का परलोक-गमन भी होता है।

भाई कुबेर, तुम्हें जो भ्रान्ति हो रही है वैसीही भ्रान्ति अन्य लोगों को भी होती है। इस भ्रान्ति के मूल मे एक प्रकार का अहंकार है। मनुष्य यह सोचने लगता है कि संसार मे जो कुछ है, मैंने सब जान लिया है। जो मै नही जानता वह है ही नही। इस मिथ्या अभिमान से नाना प्रकार की भ्रान्तियों का जन्म होता है और मनुष्य सम्यग्ज्ञान से वंचित रह जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्य एक अबोध बच्चे के ही समान है। उसमें ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान की बहुत बड़ी मात्रा विद्यमान रहती है। संसार में बहुत सी वस्तुएँ हैं और एक-एक वस्तु मे अनन्त-अनन्त धर्म हैं। उन सबका ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही हो सकता है। हमारा सामर्थ्य ही कितना है ? हमारे पास ज्ञान के साधन सिर्फ इन्द्रियां हैं। वे अपने-अपने नियत विषय को ही स्थूल रूप से

बतलाती हैं। मन इन्द्रियों द्वारा जाने हुए पदार्थ को ही जानता है। वह स्वतंत्र रूप से किसी नये पदार्थ को नहीं जानता। जैसे लकडी तोलने के बड़े भारी काटे पर पानी का एक विन्दु नहीं तुल सकता, फिर भी यह कहना सत्य नहीं कि जल विन्दु मे गुरुत्व जरा भी नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि इन्द्रियों से बहुत से सूक्ष्म पदार्थ प्रतीत नहीं होते फिर भी उनकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अपने शरीर की ओर नजर डालो। छाती, पेट, पीठ, पैर, हाथ मस्तक आदि-आदि अंगोपाग ही इन्द्रिय-गोचर होते हैं। इनके अन्दर अनेक पदार्थ है वे दृष्टिगोचर नहीं होते। फिर भी उनका अस्तित्व तो मानना ही पड़ता है। नास्तिक मतानुयायी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानकर और अनुमान आगम आदि प्रमाणो को अमान्य करके गंभीर भूल करते है। जीवन-व्यवहार भी अकेले प्रत्यक्ष से नहीं चल सकता। हम अपने पूर्वजो की लिखावट के अनुसार लेनदेन आदि व्यवहार करते है। यह लिखावट लौकिक आगम है। धूम्र को देख कर अग्नि का अनुमान सभी करते है। फिर क्यों इन्हे प्रमाण कोटि से निकाल दिया जाता है? महान् पुरुषों ने कठोर तपस्या और साधना करके जो विशिष्ट अनुभव प्राप्त किये हैं, उन्हीं अनुभवों को शब्द रूप मे अंकित किया जाता है। वही आगम है। आगम की सचाई को भी परखने की कसौटी है। उस कसौटी पर कसने से जो आगम बाधारहित सिद्ध हो उसे प्रमाणभूत मानना चाहिए। विस्तार भय से मैं इतना ही कहूँगा कि सर्वज्ञ और वीतराग महात्मा के वचन अन्यथा नहीं हो सकते। आत्मा के विषय मे वीतराग का आगम कहता है—

नो इंदियगेज्झ अमुत्तिभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।

अज्झत्थहेउ निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं ॥
निर्ग्रन्थप्रवचन ।

अर्थात् आत्मा अमूर्त्त या रूप-रस आदि से रहित होने के कारण इन्द्रियो द्वारा नही ग्रहण की जा सकती । अमूर्त्त होने के कारण वह नित्य भी है । प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से लगे हुए राग-द्वेष आदि विभाव-कर्म आत्मा के बंधन है और यह बंधन ही संसार में भ्रमण कराने के कारण होते हैं ।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि अरूपी आत्मा के साथ रूपी कर्मो का बंध कैसे हो सकता हैं ? सर्दी गर्मी आदि रूपी पदार्थो का प्रभाव रूपी पदार्थो पर ही पडता है । अरूपी आकाश पर नही । इसी प्रकार कर्मों का प्रभाव अरूपी आत्मा पर नही हो सकता । यह प्रश्न सही है और इसका उत्तर और भी सही है । सचमुच जो वस्तु सर्वथा अरूपी है उसके साथ कर्म-बंध नही हो सकता । अरूपी के साथ कर्म का बंध होता तो मुक्तात्माओ के भी बंध होता । पर सांसारिक आत्मा वास्तव में अमूर्त्त नहीं है । कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए है अतएव आत्मा अनादिकाल से मूर्त्त भी हो रहा है । जब संसारी आत्मा विभाव परिणति के कारण मूर्त्त है—रूपी है और कर्म भी रूपी हैं, तथा रूपी का रूपी के साथ बंध हो सकता है तो आत्मा के साथ कर्मों का बंध क्यो न हो सकेगा ? हां, आत्मा एक बार जब कर्मो से छूट जाता है तब वह अमूर्त्त स्वभाव में प्रगट हो जाता है । उस समय कर्मोका बंध नही होसकता और यही कारणहै कि मुक्तात्मा फिर संसार में लौटकर नहीं आते । एक बात और है । मूर्त्त के के संसर्गसे अमूर्त्त पदार्थ पर भी मूर्त्त पदार्थ का प्रभाव पड़ जाता है । मदिरा मूर्त्त है फिर भी अमूर्त्त चेतना शक्ति को वह आच्छादित करती है । चेतना शक्तिके आच्छादित होनेसे ही स्मृति आदि

ज्ञान नष्ट होजाते हैं ! इससे यह भली भाँति प्रमाणित है कि आत्मा कर्मों के बंधन मे पडकर मूर्त्त हो रहा है और वही पुण्य-पाप का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है। आगम मे कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन।

अर्थात्—आत्मा ही पापो को करने वाली और उनसे मुक्त होने वाली है। वही सुख-दु:ख उत्पन्न करती है। आत्मा स्वमेव अपना मित्र है और स्वमेव अपना शत्रु है। आत्मा अपने ही कार्यों से यशस्वी या अयशस्वी वनता है।

भाई कुवेर, तुम कहते हो अच्छे वुरे कार्यों का फल नही होता। परन्तु थोड़ी-सी सावधानी से विचार करो इस संसार मे कर्म फल के शतश उदाहरण तुम्हें देखने को मिलेगे। एक व्यक्ति पालकी मे ठाठ से वैठता है और दूसरा पालकी को कंधो पर रख कर उठाता है। एक व्यक्ति सुन्दर स्वादिष्ट और वहुमूल्य भोजन खाते२ उकता जाता है और दूसरे को रूखी सूखी रोटी के दो टुकड़े भी नसीव नहीं होते। एक के पास अनेक गगन-चुम्वी विशाल प्रासाद हैं दूसरा किसी वृक्ष के नीचे अपना डेरा-डडा जमाए है। एक कड़ाकेकी धूप मे खसखसकी टट्टियों मे वैठा है दूसरा तवे के समान तपी हुई पृथ्वी पर नंगे पैर और नगे शरीर खेत मे हल चला रहा है। इन दोनों मे इतना अन्तर क्यो है ? दरिद्रही अधिक पुरुषार्थ करता है फिर भी वही क्यो अधिक दरिद्र रहता है ? एक ही माता-पिता के दो पुत्रो मे, जिनका समान रूप से लालन पालन और शिक्षण हुआ है तथा जो समान वातावरण

मे रहकर बड़े हुए है, कभी-कभी जो महान् अन्तर दिखाई पड़ता है उसका कारण पूर्व अदृष्ट के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? तभी तो कहा है—

रङ्कं करोति राजानं, राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनञ्चैव, निर्धनं धनिनं विधिः॥

कुबेर, तुम अपने पूर्व-उपार्जित पुण्य के परिपाक से राजघराने मे उत्पन्न हुए हो। उसी पुण्य के फल से राजसी वैभव का उपभोग कर रहे हो। यदि पहले की यह कमाई न होती तो इस जन्म में तुमने कितना पुरुषार्थ किया है जो इस वैभव को प्राप्त कर सके? तुम्हारे हुक्म बजाने वाले इस किंकर को यह वैभव क्यों न प्राप्त हुआ? क्या यह तुमसे भी कम श्रम करता है? अब तुम भली भाँति समझ सकते हो कि आत्मा है, परलोक है, पुण्य पाप है, उनका फल है।"

मुनिराज के इस प्रमाणपूर्ण और तर्कसंगत उपदेश को सुन कर कुबेर का कायापलट हो गया। अब तक उसके हृदय मे जो भ्रान्ति घुसी थी वह सहसा छिन्न-भिन्न हो गई। सूर्य का उदय होने पर जैसे अंधकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार मुनिराज के वचनों से उसका अज्ञान तिरोहित हो गया। उसके हृदय मे सत्य धर्म के अंकुर उत्पन्न हो गये। मुनिराज के प्रति उसके अन्तःकरणमे असीम श्रद्धाका अविर्भाव हुआ। वह हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर बोला—भगवन्! आपका भवभय-भंजक उपदेश सुनकर मै कृतकृत्य हुआ। मैने अज्ञान और कुसंस्कारके आधीन होकर जो अविनयपूर्ण व्यवहार किया है। उसके लिये हृदय से क्षमा याचना करता हूँ। आप क्षमा के सागर है। शत्रुओं पर भी आपके अन्तःकरण रूप आकाश से क्षमा-जल की वर्षा होती

है। आज से आप मेरे परमादरणीय पूज्य गुरुदेव हैं। मैं आपका अकिंचन सेवक हूँ। आपके वचनो पर मुझे पूर्ण श्रद्धा-प्रतीति है। कृपया इतना और समझा दीजिए कि मैं किस देव को मानूं? वास्तविक तत्त्व क्या है?

कुवेर की विनम्रतापूर्ण अभ्यर्थना सुनकर मुनिराज बोले—हे भद्र! अठारह दोषों से अतीत अरिहंत देव ही सच्चे देव हैं। उन्हें ही अपने देव समझो। चार महाव्रतो को धारण करने वाले, प्रमाणोपेत वस्त्र, पात्र, रजोहरण रखने वाले, मुँह पर मुख-वस्त्रिका बाधने वाले, स्व परहित मे तल्लीन महात्माओं को अपना गुरु समझो। धर्म दो प्रकार है—एक साधु धर्म, दूसरा गृहस्थ धर्म। तीन करण तीन योग से हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह को त्यागकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह रूप चातुर्याम को धारण करना साधु-धर्म है। शक्ति हो तो इसका आजीवन पालन करके आत्मकल्याण के पथ मे अग्रसर हो जाओ। इतना सामर्थ्य न हो तो कम से कम अणुव्रतो का पालन करो। यथा-शक्ति चारित्रधर्म की आराधना करके यह मानव-जीवन सफल बनाओ। इसे वृथा न जाने दो। दोनो धर्म मुक्ति की ओर अग्र-सर करते है। दोनो मोक्ष रूपी महल की सीढ़ियां हैं। इनमे से किसी पर भी आरूढ़ होकर आगे बढ़ते बढ़ते मुक्ति प्रसाद मे पहुँचोगे। जैसे राजगृही नगरी को कोई घोड़े पर चढ़कर जाता है कोई पैदल ही प्रयाण करता है। घुड़सवार पहले जा पहुँचता है, पैदल विलम्ब से पहुँचता है, पर पहुँचते दोनों हैं।

तत्त्व नौ है। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्ते ए तहिया नव॥

अर्थात् जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं। चेतना लक्षण वाला और कर्मो का कर्त्ता-भोक्ता जीव है। जो अचेतन है—जिसमें कर्मों के करने और भोगने की शक्ति नही है वह अजीव है। जीव और कर्मों का आपस में लोलीभाव होना—एकमेक हो जाना बंध है। सत्कर्मो द्वारा उपार्जित शुभ अदृष्ट पुण्य कहलाता हैं और दुःख के कारणभूत अदृष्ट विशेष को पाप कहते हैं। मन वचन काय की क्रिया के द्वारा कर्मों का आना आस्रव है और कर्मो के आ-गमन का निरोध होना संवर है। पूर्व-बद्ध कर्मों का एक देश से कुछ कुछ झड़ जाना निर्जरा है और समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष तत्त्व कहलाता है। मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाता है। जैसे तुंबी पर मिट्टी के लेप कर दिये जावे तो जब तक लेप रहेंगे तब तक तुंबी पानी के नीचे रहेगी। लेप के छूटते ही वह ऊपर आजाएगी। इसी प्रकार कर्म लिप्त आत्मा संसार मे रहता है और कर्म लेप से मुक्त होते ही ऊपर चला जाता है।

इन नव तत्त्वों का यह अत्यंत संक्षिप्त विवेचन है। मुमुक्षु पुरुषों को इनका विशेप स्वरूप अवश्यमेव समझना चाहिए। आत्मा का असली स्वरूप क्या है? वह स्वरूप क्यो और किस प्रकार विकृत हो रहा है? उस विकृति का निराकरण किस प्रकार हो सकता है? सब प्रकार के विकारों का निराकरण हो जाने पर आत्मा किस अवस्था में प्रतिष्ठित होता है? इत्यादि गहन और उपयोगी प्रश्नो का समाधान तत्त्वो के स्वरूप को समझने से ही हो सकता है।

मुनिराज के इस शीतल उपदेश पीयूष का पान करके राजा वज्रवीर्य को संसार से विरक्ति होगई। वह निजानन्द मे निमग्न होने के लिए उत्सुक हुआ। अपने राज्य का समस्त भार वज्रनाभ के कंधो पर डाल कर उसने अपनी पत्नी और कुबेर के साथ निर्ग्रन्थ-दीक्षा धारण की। दीक्षा ग्रहण करके वे अपने गुरु महाराज के साथ अन्यत्र विहार कर गये।

वज्रनाभ परम्परागत राज्य का न्याय-नीति के साथ संचालन करने लगा। कुछ दिनो बाद वज्रनाभ की पटरानी विजय देवी के उदर से उन्हें एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम चक्रायुध रखा गया। शिक्षा ग्रहण करने योग्य होने पर कलाचार्य को सौंप दिया गया और वहा सादगी तथा संयम के साथ रहते हुए उसने समस्त कलाओं एव विविध शास्त्रों मे निष्णातता प्राप्त की। एक बार राजा वज्रनाभ गवाक्ष मे बैठा था। वहां शुभ विचार करते करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इस ज्ञान के प्रभाव से उसने यह जान लिया कि पूर्व भव मे मैने दीक्षा धारण की थी। उसी धर्माराधना के शुभ फल से मुझे इस जन्म मे यह राजसी वैभव, परिपूर्ण इन्द्रियों वाला सुन्दर शरीर, धार्मिक कुल विशिष्ट बुद्धि और धर्म का संयोग प्राप्त हुआ है। वास्तव मे देखा जाय तो पूर्व भव मे आराधित धर्म ने ही इस भव मे मेरा साथ दिया है। धर्म के अतिरिक्त और सब स्वजन-धन-धान्य आदि वही रह गये। कोई मेरे साथ न आ सका। अब भी यही होगा। सब कुछ यहीं रह जायगा। मेरे द्वारा किया हुआ धर्म या अधर्म मेरे साथ जायगा। मैंने पूर्व जन्म मे जो सम्पत्ति उपार्जित की थी वह मै भोग रहा हूँ। मगर भविष्य मे क्या होगा? संसार तो स्वार्थ का भडार है। शरीर क्षण-भंगुर है, वैभव चंचल है।

स्वप्न में जो मन को लुभाने वाले सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़ते हैं, वे आंखे खोलने पर न जाने कहां छिप जाते हैं ? यही दशा तो सांसारिक वस्तुओं की है। भेद इतना है कि स्वप्न के पदार्थ आंख खुलते ही सब विलीन हो जाते है। और संसार के पदार्थ आख मुँदतेही विलीन होजाते हैं चिरस्थायी दोनों नही हैं। मृत्यु अलग ही प्राणियो की घात में रहती है। अवसर मिलने पर वह किसी का मुलाहिज़ा नही करती। सबको अतीतके असीम उदरमें धकेल देती है। अतएव धर्मकी आराधना ही सार है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। जो सूर्य बड़ी आन बान के साथ प्रभात में उदित होता है वही संध्या के समय अस्त हो जाता है। जो फूल एक दिन यौवन को प्राप्त होकर फूलता-खिलता है वही वायु का एक झकोरा लगते ही धूल में मिल जाता है या सूर्य की प्रचंड किरणो मे भस्म होकर खाक बन जाता है। इसी प्रकार जो प्राणी उत्पन्न हुआ है वह एक न एक दिन अवश्य ही अन्तिम श्वास लेकर विदा हो जायगा। अनादि काल से यही हो रहा है और आगे भी यही होगा। इसमें रंच मात्र भी संदेह नही-यह तो ध्रुव सत्य है। आयु का क्या ठिकाना है, अभी है-अभी नही। अतएव प्रशस्त संकल्प का उदय होते ही उसे कार्य रूप मे परिणत कर देना चाहिए। मेरी आयु अधिक बीत गई है-थोड़ी-सी शेप रही है। मगर मकान मे आग लगने पर-चारो ओर धांय-धांय धधकती हुई अग्नि की ज्वालाएँ व्याप्त हो जाने पर मकान का स्वामी अपने बनते बल उसमे से जो कुछ भी निकाल पाता है, प्राणों की परवाह न कर के निकाल लेता है या कम से कम निकालनेका प्रयत्न तो करता ही है। इसी प्रकार मेरी जो भी थोड़ी सी आयु अवशिष्ट है उसी

को धर्माराधना में लगाकर सार्थक बनाऊँ और बीती हुई आयु की चिन्ता में ही शेष आयु समाप्त न कर दूं। संयम रूपी नौका के बिना संसार सागर का पार करना कठिन ही नहीं—असंभव है। अतः मुझे संयम स्वीकार कर लेना चाहिए।'

इस प्रकार दृढ निश्चय करके वज्रनाभ ने अपने पुत्र चक्रायुध को बुलाकर सब बात सुना और समझा दी। पुत्र ने कहा—पिताजी संयम ग्रहण करना श्रेष्ठ है पर संयोगोंका भी विचार कर लीजिए। आपकी आयु संयम लेने के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि आप गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही धर्म की विशिष्ट आराधना करें तो कौन हस्तक्षेप कर सकता है ?

रमा को उन्होंने अपनी पटरानी बनाई। संवेग उनकी संतान, विवेक मंत्री, विनय घोड़ा, और आर्जव रूपी हाथी अब उनके पास था। शील रूपी रथ, शम-दम-संवर रूप सेवक और सम्यक्त्व रूप महल था। वह संतोष रूपी सिंहासन पर विराजमान थे, यश रूपी छत्र को धारण किये थे, और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूपी दो चँवर उन पर ढुल रहे थे। इस प्रकार एक नया लोकोत्तर राज्य बसाकर वज्रनाभ मुनि आत्मा पर शासन करने लगे। वे गुरुजी से ज्ञान-संपादन करने मे कभी असावधानी न करते थे। थोड़े ही समय मे उन्हे पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होगया उग्र तपस्या और ज्ञान ध्यान मे जुट जाने के कारण उन्हे अनेक लब्धियों ने स्वयं आकर वरण किया। इस प्रकार अनेक असाधारण शक्तियों से संपन्न होने पर भी उन्हे लेशमात्र अहंकार न था। ये उन शक्तियों का दुरुपयोग कदापि न करते थे।

एक बार यत्र-तत्र विहार यरते हुए वज्रनाभ मुनि सुकच्छ विजय मे पधारे, वहां ज्वलनाद्रि के समीप ठहर कर उन्होंने ध्यान किया। इधर कुर्कट जाति के सर्प का जीव जो नरक मे पड़ा हुआ घोर व्यथाएँ भुगत रहा था, अपना नारकीय जीवन समाप्त कर ज्वलनाद्रि के समीप ही कुरंगक नामक भील के रूप मे रहता था। वह अपना तीर-कमान लेकर आखेट करने के लिये निकला। उसकी दृष्टि वज्रनाभ मुनि पर पड़ी तो आगबबूला हो गया। पूर्व भव के वैर के कारण उसका कषाय प्रज्वलित हो उठा। वह मुनि के पास आकर बोला अरे दुष्ट! प्रातःकाल ही नज़र आगया? भोर होते ही तेरे देखने से बहुत अशुभ हुआ है। न जाने आज का दिन कैसे कटेगा? इस प्रकार बड़बड़ाते हुए उसके हृदय मे कषाय की और भी

तीव्र ज्वाला धधक उठी। उसने मुनिराज को लक्ष्य बनाकर एक तीखासा तीर छोड़ा और मुनिराज के शरीर का अंत हो गया।

पाठकों को विदित होगा कि यह भील-कमठ का ही जीव है जिसने पहले अपने लघु भ्राता मरुभूति के प्राणों का संहार किया था और मुनि मरुभूति के जीव है। जब मुनि के शरीर मे भील का छोडा हुआ पैना तीर लगा तब भी मुनिराज को उस पर द्वेष न हुआ। उन्होंने सोचा—"किसी भव मे मैंने इसका अनिष्ट किया होगा। वह ऋण मेरे ऊपर चढ़ा था। आज वह पट गया यह अच्छा ही हुआ है। जितना बोझा कम हुआ वही गनीमत है। जो व्यक्ति किसी को ऋण देता है वह कभी न कभी लेने के लिए आता ही है। उस पर क्रोध करना या रो-रो कर ऋण चुकाना बुद्धिमत्ता नही है। ऐसा करना कायरों का काम है। फिर इसने मेरा बिगाड़ा ही क्या है? मै तो अजर-अमर अविनाशी हू। सच्चिदानन्द रूप हू। मेरा-मेरी आत्मा का कभी विनाश नहीं हो सकता। यदि कभी तीनो लोक उलट जाएँ, मेरु पर्वत भी चूर२ हो जाय, पृथ्वी पिघल कर पानी बन जाय, तो भी आत्मा मर नहीं सकता। करोडों इन्द्र आकर के भी आत्मा का विनाश नहीं कर सकते। बेचारा कर्मों का मारा हुआ यह भील मेरा क्या बिगाड़ सकता है। इसके प्रयत्न से भले ही मै इस शरीर को त्याग दूंगा पर शरीरों की क्या कमी है? अनादि काल से शरीर मिलते ही रहते है और फिर भी मिल जायगा। जीव जहां जाता है वहीं शरीर पाता है। इस जर्जरित देह का वियोग होने पर नया देह मिलेगा। इसमे मेरा क्या बिगड़ता है? बल्कि मै तो स्वयं अशरीर बनने के लिए साधना कर रहा हूं। जब सब शरीरों का अन्त हो जायगा तो मै धन्य और कृतकृत्य हो जाऊंगा सैकड़ों

कीड़ों से व्याप्त, अशुचि का गृह, हाड़ मांस का पिंजरा यदि नष्ट होता है तो हो जाय। इसमें खेद का अवसर ही कहां है? और मृत्यु? मृत्यु ही तो वह सखा है जिसकी सहायता से जीवन में किये हुए समस्त पावन अनुष्ठानों का फल प्राप्त हो सकता है। मृत्यु के बिना दान-पुण्य-धर्म आदि का पूर्ण फल नही मिलता। मुझे इस भोले भील का ऋणी होना चाहिये कि यह केवल शरीर से विमुक्त करके ही सन्तुष्ट हो गया है। इसने मेरे सर्वस्व के समान संयम का विनाश करने का प्रयत्न नही किया।" इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज ने समता भाव की आराधना की। अपना अंतिम समय निकट समझ कर आलोचना की। तत्पश्चात अनशन व्रत अंगीकार करके अरिहंत, सिद्ध, साधुओं के स्मरण मे तन्मय हो गये। उन्होंने अत्यन्त प्रशस्त अध्यवसायों के साथ मुनि-देह त्यागा और नवग्रैवेयक के आनन्दसागर नामक विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ सत्ताईस सागर की स्थिति प्राप्त हुई। अब वे स्वर्गीय सुखों का संवेदन करते हुए जीवन-यापन करने लगे। उधर वह कुरंगक भील मर कर सातवें नरक मे उत्पन्न हुआ। वहां की प्रकृष्ट तम वेदना का क्या पार है? मनुष्य जिन यातनाओं की कल्पना भी नही कर सकता ऐसी यातनाएँ भोगता हुआ वह अपने समय को किसी प्रकार बिताने लगा।

आनन्दसागर नामक विमानवासी देव ने अपनी सत्ताईस सागर की आयु क्रमशः पूर्ण करके जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र मे सुरपुर नामक नगर मे वज्रबाहु राजा के घर जन्म लिया। सुरपुर नगर बड़ा ही सुन्दर और रमणीय था। उसके चारों ओर बाग-बगीचे और विकसित फूलों से शोभित कमलों से युक्त सरोवर उसकी छटा को द्विगुणित करते थे। ऊँचे-ऊँचे प्रासाद

मानों नगर की समृद्धि और शोभा की घोषणा कर रहे थे। उस नगर के निवासी सुरुचि संपन्न, नीति परायण, धर्मनिष्ठ और उदार थे। राजा वज्रबाहु की रानी का नाम सुदर्शना था। रानी सुदर्शना सुन्दरी, सुशीला और पतिव्रता थी। एक बार सोते समय पिछली रात्रि में उसने एक मंगल-स्वप्न देखा। वह विदुषी थी अत उसे मालूम होगया कि इस स्वप्न का फल क्या होगा? उसने अत्यन्त सावधानी के साथ अपने गर्भ का पालन-पोषण और रक्षण किया। यथा समय उसके एक चेष्टावान् सुन्दर बालक का जन्म हुआ। जन्म होने के पश्चात् बारहवें दिन अशुचि कर्म से निवृत्त होने पर पुत्रका नामकरण संस्कार किया गया। 'सुवर्णबाहु' उसका नाम रखा गया। बालक का लालन-पालन बड़े प्रेम से हुआ और साढ़े सात सालकी उम्रमे उसे विद्याध्ययनके लिये भेज दिया गया। जब वह विद्या उपार्जन कर चुका और यौवन अवस्था मे प्रविष्ट हुआ तो पिता ने राज-काज संचालन के योग्य समझकर राजगद्दी का स्वामी बना दिया। वज्रबाहु ने दीक्षा धारण करके उग्र तपस्या की और दृढ़ता से चारित्र का पालन किया। उनके कर्मों का सर्वथा क्षय हो गया और वे मुक्ति को प्राप्त हुए।

सुवर्णबाहु बड़ा ही भाग्यशाली नरेश था। उसका वक्षस्थल विशाल था, नेत्रों मे दीप्ति थी, कंधे वृषभ के समान सुदृढ़ और भुजाएँ आजानु लम्बी थीं।

लम्बी लिलाट लम्बी भुजा, लम्बा नेत्र सिरे।
क्या देखे ए ज्योतिषी, यह बैठो ही राज्य करे॥

सुवर्णबाहु नरेश के शासन काल मे प्रजा अत्यन्त संतुष्ट और सुखी थी। 'प्रजां रञ्जयतीति राजा' यह राजा शब्द की

व्युत्पत्ति उस पर परिपूर्ण रूप से चरितार्थ होती थी । वह प्रजा का स्वामी नही सेवक था । प्रजा के कल्याण के लिए उसने अपने समग्र सुखों का उत्सर्ग किया था। राजा की आदर्श मर्यादा का उसने निर्माण किया, दृढ़ता से पाला और अन्यान्य राजाओं के सामने आदर्श उपस्थित किया।

वसंत ऋतु का समय था। एकबार राजा सुवर्णबाहु उद्यान मे जाकर आमोद-प्रमोद कर रहा था। घोड़े पर सवार होकर वह शीतल, मंद, सुगंध समीर में इधर-उधर घूम रहा था। घोड़ा बड़ा चंचल और द्रुतगामी था। ज्यों उसकी लगाम खीची जाती, त्यों ही वह रुकने के बदले और अधिक वेग से दौड़ता था। इस प्रकार बढते-बढ़ते सुवर्णबाहु अपने राज्य की सीमा से बाहर हो कर, राजा मणिचूड़ की राज्य-सीमा मे जा पहुँचा। उस राजा के एक कन्या थी। किसी नैमित्तिक ने उसका पाणिग्रहण संस्कार सुवर्णबाहु के साथ होना बताया था। अतः मणिचूड़ सुवर्णबाहु की प्रतीक्षा कर रहा था। आज अकस्मात् ही सुवर्णबाहु के मिलने से मणिचूड़ को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने बड़े उत्सव के साथ अपनी कन्या पद्मावती का विवाह सुवर्णबाहु के साथ कर दिया। राजा सुवर्णबाहु आनंद पूर्वक नवोढ़ा पत्नी के साथ अपने राज्य मे वापस आगया।

एक बार राजा सुवर्णबाहु अपने गगन-चुम्बी विशाल प्रासाद के झरोखे मे बैठा हुआ बाजार की शोभा का अवलोकन कर रहा था। उसने देखा, कि जनता का एक विशाल समूह एक ओर ही जा रहा है। राजा ने उसके विषय मे अपने भृत्यों से पूछताछ की—आज यह क्या मामला है ? क्या नगर मे कोई महोत्सव है ? यह विशाल जनसमूह आज इस प्रकार किधर उमड़ रहा है।

भृत्य ने कहा—देव ! आज सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग तीर्थंकर भगवान् का नगर मे शुभागमन हुआ है। उन्हीं के हृदयानन्दजनक दर्शन और पावन पद-स्पर्श के लिए लोग जा रहे है।

साक्षात तीर्थंकर भगवान के शुभागमन का संवाद सुन कर राजा के हृदय मे आनन्द का अतिरेक हो गया। वह भगवान् के दर्शन और चरण-वन्दन के लिए उत्कंठित हो गया। अपने राजकीय ऐश्वर्य के साथ वह रवाना हुआ। ज्यों ही भगवान के शरीर की छवि उसे दृष्टिगोचर हुई, त्यों ही उसने छत्र, चॅवर आदि राज चिन्ह पृथक् कर दिये। मुॅह पर उत्तरासन करके दोनों हाथ जोड़े हुए वह प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुआ। वहॉ पहुॅच कर उसने भक्तिपूर्वक भगवान् को तीन वार वन्दना की, नमस्कार किया और यथोचित आसन पर बैठ गया। उस दिन भगवान् ने पञ्च मकार के अनुयायिओ की कुयुक्तियो का प्रभावशाली शैली से निरसन करते हुए यह बतलाया कि पञ्च सकार रूप धर्म ही आत्म-कल्याण का साधक है।

भगवान ने फरमाया—"भव्य जीवो ! कर्मों की विचित्र लीला है। इन कर्मो मे मोहनीय कर्म सब से अधिक बलशाली है। यह मोह रूपी नट अनेक प्रकार से अपना अभिनय करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वह दृष्टि मे दोष उत्पन्न करके वास्तविक वस्तु तत्त्व का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होने देता और साथ ही सम्यक्-चारित्र रूपी महा मूल्यवान् रत्न चुरा कर आत्मा को दीन हीन दशा मे, ला पटकता है। वह सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र दोनों का हनन करता है। इसके चक्कर मे पड़े हुए प्राणी न केवल अपनी आत्मा का ही अकल्याण करते है, किन्तु अपने

मिथ्याज्ञान के द्वारा असद्भूत प्ररूपणा करके दूसरे भोले प्राणियों के कल्याणमार्ग मे भी बाधक बन जाते है। इस विश्व में नाना प्रकार के मत-मतान्तर इसी के बदौलत उत्पन्न होते हैं। मोह के सताये हुए प्राणियों ने इतने अधिक मिथ्यामतों की स्थापना करदी है, कि उन सब का विवेचन इस समय करना उचित नहीं है। मगर आज मै 'मकार-सकार' का ही विवेचन करूँगा। अनेक लोग कहते है, कि (१) मदिरा (२) मांस (३) मधु (४) मछली (५) मैथुन—यह पांच मकार जीव के अकल्याण-कर्ता नही है। यह तो जीवों की स्वाभाविक प्रवत्ति है—

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला॥

इस प्रकार की प्ररूपणा स्वत पतन की ओर जाने वाले संसारी प्राणियों को पतन के गहरे गर्त मे गिराने के लिए, एक और धक्का देने के समान है। आप लोग सोचे, कि यदि मांस भक्षण आदि मे दोष नहीं है, तो उनका त्याग महाफलदायक कैसे हो सकता है? यदि निर्दोष वस्तुओ का त्याग करने से भी अच्छा फल होता हो, तो अहिसा संयम आदि अनुष्ठानो का परित्याग करने से भी शुभ फल होना चाहिए। वास्तव मे यह पांचो मकार मोहरूपी महा-मकार की संतान है। आत्मा के अश्रेयस का द्वार है और स्वर्ग-मोक्ष के लिए अगल है। सच्चा धर्म तो पॉच सकार अर्थात् (१) सम्यक्त्व (२) सामायिक (३) संयम (४) संतोष और (५) स्वाध्याय है। यही आत्मा को हितकारक और सुखकारक है।

समस्त विकारों को सर्वथा जीतने वाले महापुरुष देव है।

और जिन्होंने विकारो को नहीं जीता अर्थात् जो अठारह दोषों से युक्त है, उन पर और हिंसा, असत्य, चोरी, तथा अब्रह्म के भंडार गुरुओं पर और हिंसा प्रतिपादक एकान्त रूप धर्म पर श्रद्धा न रखते हुए, वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और दयामय धर्म पर दृढ़ प्रतीति रखना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व समस्त ज्ञान एवं चारित्र की नींव है। इसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते है। सम्यक्त्व के बिना होने वाली सब क्रियाएँ मोक्ष का कारण न होकर संसार की कारण होती है। ज्ञान सारा मिथ्या ज्ञान होता है। सम्यक्त्व की महान् कृपा से ही आत्मा सत्य मार्ग की ओर अभिमुख होता है। कहा भी है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्त चेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्य चेतनाः॥

अर्थात जिस प्राणी का हृदय मिथ्यात्व-तिमिर से व्याप्त है, वह मनुष्य होने पर भी पशु के समान है। क्योंकि जैसे पशु में हिताहित का विशिष्ट विवेक नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी मे भी हिताहित का विशिष्ट विवेक नहीं होता। मिथ्यात्वी जीव अधर्म मे धर्म, कुदेव मे देव और दुख मे सुख की कल्पना करता है। वह कल्याणमार्ग से विमुख होकर संसार मे भ्रमण करता है। इसके विरुद्ध जिसकी चेतना, सम्यक्त्व रूपी निर्मल और प्रकाशमान रत्न से व्यक्त हो जाती है, वह पशु होने पर भी मनुष्य के समान है, क्योंकि उसे सत-असत्, कल्याण-अकल्याण का विवेक उत्पन्न हो जाता है। तिर्यंच भले ही विशेष चारित्र का पालन न कर सके, फिर भी वह देश-विरति का यथायोग्य आराधन कर सकता है। यदि देशविरति का भी आराधन न कर

सके तो भी उसकी गति मुक्ति की ओर हो जाती है। वह मोक्ष महल की पहली सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है। और अन्त में निश्चय ही सिद्ध-पद प्राप्त करता है। अत: सम्यक्त्वहीन मनुष्य की अपेक्षा सम्यक्त्ववान् पशु अधिक श्रेष्ठ और मुक्ति के समीप है सम्यक्त्व की बड़ी महिमा है। सम्यक्त्वी जीव नरकगति, तिर्यंच गति और वाण-व्यन्तर आदि निम्न कोटि के देवो मे उत्पन्न नही होता। सम्यक्त्वी जीव की श्रद्धा ऐसी होती है, कि जो देव काम-विकारो से सहित है, जो सस्त्रीक है, या अपने आधे अंगो मे स्त्री को लिए फिरते है, वे वीतराग नही हो सकते। जो वीतराग नही वह सर्वज्ञ भी नही हो सकता। वे साधारण मनुष्यों की भॉति भोगी और रागी है। अत: सांसारिक मनुष्यो की ही कोटि के है। सच्चा देव तो आत्मा के स्वाभाविक गुणो की चरम सीमा को प्राप्त करता है। वह आत्मा का आदर्श है, और इसीलिए उस पर श्रद्धा-भक्ति रखने से कल्याण होता है। रागी द्वेषी देवो को आदर्श मान लेने से राग-द्वेष की ही ओर चित्तवृत्ति आकृष्ट होगी और इससे आत्मा मे मलिनता की वृद्धि होगी। ऐसे देव न स्वयं मुक्त होगे, न उनके निमित्त से भक्त जन मुक्ति पा सकेंगे। अतः जो जीव आत्मा को राग-द्वेष के बंधन से छुटा कर आत्मशुद्धि की इच्छा रखते है, उन्हे अपना आदर्श ध्येय वीतराग भगवान् को ही बनाना चाहिए। जो स्वयं मोह-ममत्ता की कीचड़ मे फॅसे है, वे दूसरो को निर्मोह, निर्दोप एवं पवित्र कैसे बनाऍगे? जो स्वयं कर्म-कालिमा से घिरे है, वे दूसरों को उज्ज्वलता कैसे प्रदान करेंगे? जो स्वयं पत्थर की नाव पर बैठे हुए, सागर के उदर मे समाने को अभिमुख हो रहे है, वे अपने अनुयायियो को क्योंकर तार सकेंगे? जो काम के तीखे तीरो से

स्वयं घायल होकर स्त्रियों के दास बने फिरते है, वे अखंड ब्रह्मचर्य का मार्ग कैसे दिखा सकते है ? जो स्वयं भयभीत है, और भय के मारे गदा, त्रिशूल, चक्र आदि हथियार बॉधे फिरते है, वे भक्तो को निर्भयता कैसे सिखाएँगे ? जो अपने शत्रुओ का संहार करने के लिए, मोक्ष मे से भागे आते चले जाते है, वे दया, क्षमा और मध्यस्थता की सीख किस मुँह से दे सकेगे ? अतएव ऐसे देव, मुमुक्षु जीव के आदर्श नहीं हो सकते !

अठारह दोषो पर, जिन्होने पूर्ण रूप से अंतिम विजय प्राप्त करली है, अतएव जो पूर्ण वीतराग है, पूर्ण सर्वज्ञ है, पूर्ण हितकर है, अनत आत्मिक सुख के सागर है, चौतीस अतिशय और पैंतीस व्याख्यान-वाणी सहित है, जिन्होंने कामना मात्र को दबा दिया है, निष्काम भाव से जो जगत् को सुख का सन्मार्ग बतलाते है, वही सच्चे देव हैं। उनकी उपासना ही व्यक्ति को उन्ही के समान, सच्चा देव बनाती है, और संसार के दु.खों से बचाकर अजर-अमर अविनाशी पद पर पहुँचाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा की ओर अभिमुख होता हुआ दृष्टि मे एक ऐसी निर्मलता प्राप्त करता है, कि उसे तत्त्वों का मिथ्याज्ञान नहीं होता। वह तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है। यही सम्यग्ज्ञान है। यों तो ज्ञान आत्मा का गुण है, और गुण सहभावी धर्म है, अतएव वह आत्मा मे सदैव विद्यमान रहता है। किन्तु उसमे पर्यायान्तर होता रहता है दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जब मिथ्यात्व का उदय होता है, तो मिथ्यात्व के ससर्ग से ज्ञान गुण विकृत हो जाता है—मिथ्या बन जाता है। जब सम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब ज्ञान का विकार भी दूर हो जाता है, और वह भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है। इस

प्रकार स्पष्ट है, कि सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। फिर भी जैसे सूर्य का उदय होने पर, प्रकाश और प्रताप एक साथ आविर्भूत होते हैं,उसी प्रकार मिथ्यात्व का नाश होने पर सम्यक् ज्ञान और दर्शन भी युगपद् प्रकट हो जाते हैं।

अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ एवं शुद्ध क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना सम्यक्-चारित्र है। इसका प्रारंभ पांचवे गुणस्थान से होता है। पहले चारित्र का किञ्चित् विवेचन किया जा चुका है।

धर्म की प्रवृत्ति उसके प्रवर्तक नेता से होती है। अतएव यह स्वाभाविक है, कि प्रवर्त्तक अपनी मनोवृत्ति के अनुसार कर्त्तव्य-धर्म का विवेचन करे। मनोवृत्ति और आचरण का घनिष्ठ संबंध है, इसलिए प्रवर्त्तक के आचरण का उसके द्वारा प्ररूपित धर्म पर गहरा प्रभाव देखा जाता है। किसी भी धर्म के अनुयायी अपने धर्म-प्रवर्त्तक के जीवन व्यवहार का अनुकरण करते है, अतः धर्मप्रवर्त्तक यदि आदर्श हो या आदर्श रूप मे अंकित किया गया हो,तब तो उसके अनुयायी भी आदर्श बनना अपना ध्येय समझ कर प्रवृत्ति करते हैं। और यदि धर्मप्रवर्त्तक के जीवन में ही कोई आदर्श जैसी वस्तु न हो, तो उसके अनुयायी भी आदर्शहीन होते हैं। फिर वह धर्म उनका कल्याण नही कर सकता। एक बात और है। साधारण जनता उपदेश की ओर दृष्टिपात न करके उपदेशक की ओर ही देखती है। इसलिए भी धर्मप्रवर्त्तक के जीवन मे उसके उपदेश के अनुकूल तत्वों का विद्यमान रहना आवश्यक है। जो क्रोध की मूर्ति है, मान का मारा है, माया का पिंड है और लोभ के जाल मे फँसा हुआ है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ के परिहार का उपदेश नही दे सकता। और यदि देने की धृष्टता

करता है, तो श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड सकता। जो त्यागी है, जिसने ससार संबंधी उत्तमोत्तम भोग-विलास के सहज प्राप्त साधनो को तिनके की तरह त्याग दिया है, जिसकी वृत्ति, शत्रु-मित्र पर समान रूप से करुणा का वारि वरसाती है, जिसने कंचन और कामिनि के आकर्षण पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जो शरीर मे रहते हुए भी आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझकर, आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप मे निरन्तर रमण करता है, जिसके हृदय-वारिधि मे शम-दम-नियम यम-संयम की उत्तुग तरंगें सदैव तरंगित होती रही, और वे तरंगे अब अनन्त एवं अखंड आत्मानन्द मे विलीन हो गई है, जो अपने समस्त कृत्यो को पूर्ण करके चरम लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है, जिसकी दृष्टि से मानो अमृत के झरने वहते है, जिसके मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाला वाक्-सौरभ विश्व को व्याप्त करके आह्लादित करता है, जिसने मोह-मल्ल को पछाड़ दिया है, जिसने असीम ज्ञान-दर्शन और अनन्त शक्ति संपादन करके आत्मिक निर्मलता का अन्तिम रूप सर्वसाधारण के समक्ष रख दिया है, जो संसार मे रहता हुआ भी संसार से अतीत हो गया है, वही वीतराग पुरुषोत्तम मनुष्य-मात्र की श्रद्धा का, भक्ति का, पूजा का, श्रेष्ठ पात्र है। उसी का आदर्श सामने रखने से प्राणी भवसागर को तर सकता है। उसीके द्वारा उपदिष्ट धर्म सच्चा धर्म है और उसी के धर्म को धारण करने वाले विरक्त त्यागी जन सच्चे गुरु है। सम्यग्दृष्टि की यही विचारणा है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष उल्लिखित देव, गुरु, धर्म पर निश्चल प्रतीति रखता है। भयंकर से भयंकर यातनाएँ सहते हुए, घोर कष्ट आ पड़ने पर भी वह कभी उस श्रद्धा से अणुमात्र भी विगता नही।

भय, आशा, स्नेह, लोभ आदि कोई भी आकर्षण उसे अपने निर्दिष्ट पथ से हटा नही सकता। वह दृढ़-धर्मी और प्रियधर्मी होता है। वह अपने या अपने पुत्र-पौत्र आदि स्वजनों के लिए, उन्हें रोग आदि से मुक्त करने के लिए भैरों, भवानी, चंडी मुंडी, आदि कुदेवो की ओर नजर भी नही फेंकता। वह कर्मो के फल पर पूर्ण विश्वास रखता है। मिथ्यात्वियों की भांति कुदेवों के शरण मे जाकर, वहाँ बलि आदि चढ़ाकर पुण्य के बदले भयंकर पाप का उपार्जन कदापि नही करता। वह जानता है, कि जो देव स्वयं दूसरो के रक्त के प्यासे है, दूसरों के मांस के भूखे हैं, जो स्वयं जन्म और मरण की व्याधियो के शिकार है, वे किसी की मृत्यु को कैसे निवारण कर सकेंगे? आयु कर्म यदि प्रबल है, तो कौन मार सकता है? आयु कर्म यदि समाप्त हो गया है, तो कौन बचा सकता है? साता वेदनीय का उदय है, तो कौन हमारा सुख छीन सकता है? यदि पूर्व कृत असातावेदनीय, अपना फल देने के लिए उद्यत हुआ है, तो उसे कौन रोक सकता है? यह इस प्रकार की पारमार्थिक विचारणा के द्वारा, वह कुदेवों का कभी आश्रय नही लेता।

वास्तव मे कुदेवो की मान्यता मनाने से, उनकी वन्दना या सेवा करने से निरोगता या पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, राज्य-वैभव आदि प्राप्त होना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है। इसलिए निर्मल सम्यक्त्व के धारण करनेवाले धर्मात्माओ का यह कर्त्तव्य है, कि वे यश-कीर्ति, ऋद्धि-समृद्धि, धन-वैभव, आरोग्यता आदि के झूठे लालच में पड़कर, अपने सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि को खो, दीन, हीन, दुखी न बने। सच्चे और झूठे देव आदि के स्वरूप का पहले भली भांति निश्चय करे। और सत्य पर सुमेरु की तरह

अडिग विश्वास रखे। वह किसी भी प्रकार की भ्रमणा में पड़कर असत्य की ओर आकृष्ट न हो, कोई भी प्रलोभन उसे अपने सकल्प से न चिगा सके। इस प्रकार असर्वज्ञ, रागी और द्वेषी देव को, देव मानना देवमूढता है।

कामी, क्रोधी, लोभी, लालची, दंभी, विषयों में आसक्त, त्याग का त्याग करने वाले, भोगों को भोगने वाले, इन्द्रियो के दास, कामनाओ के किंकर और संयम से हीन व्यक्तियो को, अथवा आगमोक्त वस्त्र-पात्र आदि सयम के उपयोगी साधनो को मर्यादा से अधिक रखने वाले, मुनिवेषी गुरुओ को सच्चा गुरु मानकर जो उनकी भक्ति करता है, वह पत्थर की नौका पर आरूढ होकर समुद्र पार करने की इच्छा करता है। इस प्रकार गुरु-मूढ व्यक्ति अज्ञ है, करुणापात्र है। मनुष्य की उत्तमता का आधार सद् गुणो का विकास है। जिसके सद्गुणों का जितनी मात्रा में विकास हो गया है वह उतनी ही मात्रा में अधिक उत्तम है। यही कारण है, कि मुनि, साधारण मनुष्यों से श्रेष्ठ माने जाते और पूजे जाते है। यदि सामान्य जन की भांति गुरु भी लोभी, लालची, कामी क्रोधी आदि हों तो दोनों मे भेद ही क्या रह जाता है? यदि कुछ भेद है,तो वह यही, कि वह गुरु और अधिक पापी है क्योंकि वह त्यागी बनकर भी त्यागी नहीं है। वह अपनी मर्यादा का लोप करता है, संसार को और अपनी आत्मा को धोखा देता है। और दूसरे के समक्ष बुरा उदाहरण उपस्थित करके दूसरो को भी अपनी भांति पतित बनाने का प्रयत्न करता है। अतः ऐसे गुरु—फिर वे चाहे जिस वेष मे हो, चाहे जहाँ रहते हो और चाहे जितना अज्ञान तप करते हों, त्याज्य है। जो रात-दिन विषयो के कीट बने रहते है, भग गांजा, चरस चंडू आदि सभी

मादक द्रव्यों का सेवन करते है, जो न तपस्वी हैं, न ज्ञानी है, ऐसे दंभी और अन्यायी गुरुओ से साधारण गृहस्थ ही श्रेष्ठ है। ऐसे गुरुओ को मानना गुरुमूढ़ता है। और वह मिथ्यात्व का कारण है।

सम्यक्त्व की श्रद्धा के विषय मे तीर्थङ्कर भगवान् ने कहा है—

परमत्थ संथओ अ, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि—
वावन्न कुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

अर्थात् सम्यक्त्व का श्रद्धान इस प्रकार होता है, कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की कभी प्रशंसा न की जाय। क्योंकि प्रशंसा करने से अन्य भोले लोग उन्हे आदर्श मान कर उनके चक्कर मे पड़ जाएँगे और अपनी वृत्ति मे भी चंचलता उत्पन्न होगी। इस लिए उनकी प्रशंसा नही करनी चाहिए। जो देव सच्चे है, जिन का अनुसरण करने वाले गुरु सच्चे है और जिनके द्वारा प्रणीत दयामय धर्म सच्चा है, उनकी सच्चे हृदय से प्रशंसा और स्तुति करनी चाहिए, क्योंकि वे परमार्थ के स्वरूप को सम्यक्-प्रकार से जानते है। उन्हीं का शरण ग्रहण करना चाहिए। उन्ही की भक्ति करना चाहिए। वही आत्मकल्याण के कारण हैं।

किसी भी पदार्थ का पूर्ण और सर्वाङ्गीण विवेचन करने की पद्धति यह है, कि उसके अंगो पर विवेचन किया जाय। अंगो के समूह को अंगी कहते है। जब तक अंगो का ज्ञान न हो तब तक अंगी की कल्पना करना कठिन है। यदि हम किसी के शरीर का समग्र वर्णन करना चाहे तो हमे अनिवार्य रूप से उस के अंगोपांगो की ओर दृष्टि डालकर उनका वर्णन करना होगा। अंगो

का वर्णन ही एक प्रकार से अंगी का वर्णन है। क्योंकि अंग और अंगी मे कथंचित् तादात्म्य संबंध होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उसके अंगो का स्वरूप समझना अनिवार्य है। सम्यक्त्व के आठ अंग माने गये है। वह आठ अंग ही सम्यग्दर्शन है। अतः उनका संक्षिप्त स्वरूप जानना आवश्यक है। आठ अंग इस प्रकार है—

निस्संकियं निक्कंखियं निव्वितिगच्छा अमूढ दिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥

अर्थात् निश्शंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, यह आठ सम्यक्त्व के अंग या गुण है।

जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। और उनका स्वरूप भी वही है, जो भगवान् ने बताया है। इस प्रकार की निश्चल श्रद्धा को नि.शंकित अंग कहते है। श्रद्धा या विश्वास की अनिवार्य आवश्यकता पद-पद पर अनुभव की जा सकती है। क्या भौतिक जगत् मे और क्या आध्यात्मिक जगत् मे श्रद्धा के बिना पल भर भी काम नहीं चलता। जब बुद्धि मे एक प्रकार की चंचलता का प्रवेश होता है, तब मनुष्य ऐसी परिस्थिति मे आ जाता है, कि उसके संकल्प—जो जीवन मे बहुमूल्य है, क्षण भर मे नष्ट होने लगते है। वह अपने निश्चित पथ से भ्रष्ट होकर, विवेक की बागडोर को एक किनारे रखकर इधर-उधर निरुद्देश्य-सा भटकने लगता है। उस समय उसे अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट करने का कार्य श्रद्धा ही करती है। पूर्ण श्रद्धा के बिना, दृढ संकल्प के अभाव मे किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं

हो सकती । विशेषतया ऐसे क्षेत्र मे, जब कि साधना का विषय अत्यन्त परोक्ष होता है, बुद्धि बहुत बार मचल जाती है । उसे श्रद्धा के अंकुश से ठिकाने पर लाना पड़ता है।

लोक-व्यवहार में भी श्रद्धा की आवश्यकता है। जो दूसरों पर अति अविश्वास करता है, वह दूसरों को अपने प्रति अविश्वास करने की प्रेरणा करता है । रोगी यदि औषध पर विश्वास करता है, तो उसे आरोग्य लाभ होते देखा जाता है । बहुत-से उपचार केवल मानसिक भावना पर ही अवलंबित है । लाखो करोड़ो रुपयों का लेन-देन विश्वास के बल पर ही चलता है । इस प्रकार जिसके अंतःकरण मे धर्म, आत्मा, मुक्ति, परलोक आदि विषयों मे निश्चल श्रद्धा है, वही धर्म मे दृढ़ रह सकता है । वही धर्मनिष्ठ कहला सकता है । जो संशयशील है, जो संदेह के झूले मे झूलता रहता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट.' होता है। और 'संशयात्मा विनश्यति' इस उक्ति का पात्र बनता है । अतः वीतराग भगवान् के वचनों पर रंचमात्र भी अश्रद्धा नही करना चाहिए । श्रद्धा का अर्थ अंधविश्वास नही है । अंध विश्वास और श्रद्धा मे बहुत अन्तर है । श्रद्धा में विवेक को पूर्ण स्थान है । और अंध विश्वास अविवेक पर आश्रित है । अन्ध विश्वास से परीक्षा का सर्वथा अभाव होता है । पर श्रद्धा मे परीक्षा-प्रधानता होती है । अंधविश्वासी सत्- असत् की ओर दृष्टि निपात ही नहीं करता । और श्रद्धालु सत्-असत् पर पर्याप्त विचार करता है ।

बात यह है, कि संसार मे बहुतेरे ऐसे विषय है, अनेक ऐसे तत्त्व है, जिन पर हमारी बुद्धि का, हमारे तर्क का प्रकाश पहुॅच सकता है । पर बहुत से ऐसे भी विषय है, जहां बुद्धि की पैठ नहीं है, तर्क का जहां प्रवेश ही असंभव है । ऐसे तत्वो को यदि

तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया जाय, तो निष्फलता ही प्राप्त होगी। यही नहीं वरन् हम उस गूढ़ किन्तु वास्तविक तत्व के सम्यग्ज्ञान से भी वंचित रह जाएँगे। मगर ऐसे तत्वों पर जो श्रद्धा की जाय, वह उनके प्ररूपक की परीक्षा करके की जानी चाहिये। वक्ता या प्ररूपक की परीक्षा किये बिना ही जो यद्वा-तद्वा श्रद्धा कर ली जाती है, वह विवेक शून्य अंधविश्वास है किन्तु वक्ता की वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों की परीक्षा कर के यदि श्रद्धा को स्थान दिया जाय, तो वह श्रद्धा अभ्रान्त और विवेक पूर्ण होगी। सम्यग्दर्शन इसी प्रकार की विवेक युक्त श्रद्धा है—अंधविश्वास नहीं। जो तर्क की कर्कश कसौटी पर कसा जा कर सत्य सिद्ध होता है, जिसका प्रणेता पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग है, वह तत्व कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। उस पर अखण्ड विश्वास रखना और शारीरिक या मानसिक कायरता आदि के कारण उससे च्युत न होना निःशंकित अंग है।

सम्यक्त्व का दूसरा अंग निःकांक्षितता है। कांक्षा का यहाँ अर्थ है—सत्कार्यों के फल की इच्छा करना। मैं अमुक धर्म-कृत्य करता हूँ, उसके फल स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय। मैं तपस्या करता हूँ, इस तपस्या से मुझे स्वर्ग के भोगोपभोग मिलें, सामायिक या प्रतिक्रमण के बदले व्यापार में नफा हो या पुत्र प्राप्ति हो। इत्यादि आकांक्षा धर्मकृत्य के महान् फल को तुच्छ और विकृत बना देती है। जैसे किसान धान्य के लिये खेती करता है। भूसा उसे आनुषंगिक रूप से मिल जाता है। उसी प्रकार मुमुक्षु जीव केवल आत्म शुद्धि के लिए, इह-परलोक संबंधी सुखों की कामना न करता हुआ धर्म की आराधना करता है। पर देवलोक का ऐश्वर्य आनुषंगिक रूप से प्राप्त हो जाता है।

यदि कोई विषय का लोलुप केवल ऐश्वर्य के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान करता है, तो भले ही उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाय पर असली फल–आत्म शुद्धि उससे दूर ही रहती है। जैसे विवेक-शील जौहरी अपने अनमोल रत्न को कौड़ी के बदले नहीं लुटा देता। उसी प्रकार विवेकनिष्ठ धर्मात्मा अपने सदनुष्ठान रूपी लोकोत्तर रत्न को कोड़ी के समान ऐहलौकिक सुख के लिये नहीं लुटा सकता।

जिसे अभ्रान्त दृष्टि-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो चुकी है। उसका लक्ष्य विषयभोगों से बचकर मुक्ति की प्राप्ति करना बन जाता है। वह संसार में रहते हुए भी जल मे कमल के समान अलिप्त अशुद्ध रहता है। इन्द्रियों के विषय उसे काले नाग के समान विषैले जान पड़ते है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव न उन्हें अपना लक्ष्य बनाता है, न उनके प्रति अनुराग ही रखता है। फिर अपनी बहुमूल्य क्रियाओं को वह इन ओछे दामो पर कैसे बेच सकता है? जो इस प्रकार का व्यापार करने को उद्यत है, समझना चाहिए कि अभी तक उसका लक्ष्य शुद्ध नहीं हुआ है। उसे दृष्टि की विमलता प्राप्त नहीं हुई है। इसीलिए निदान शल्य का परि-त्याग करना व्रती जनो के लिए अनिवार्य माना गया है। निदान अपने शुभ अनुष्ठानों को मलिन बनाता है और साथ ही आत्मा मे भी वह मलिनता उत्पन्न करता है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीवो का यह आवश्यक कर्त्तव्य है, कि वे अपने किये हुए धर्म-कार्यों के फल की कदापि आकांक्षा न करे। निष्काम भाव से सेवित धर्म और कृत-कर्म ही पूर्ण फल प्रदान करता है। आकांक्षा का विष उस फल को विषाक्त बना डालता है।

संसार के दुःखो से ऊब कर ही व्रत नियमादि धारण किये

जाते है। किन्तु उन व्रत, नियम, तप, जप आदि के फल स्वरूप भोगोपभोगों की सामग्री की पुनः इच्छा करके दुखों को आमंत्रण देना, कितने खेद और आश्चर्य की बात है ? विषयभोगों के जाल मे फँसकर ही तो आत्मा को जन्म-मरण की तंग घाटी मे से गुजरते हुए अनादि काल हो गया है। अब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर तो पूर्ण सावधानी की आवश्यकता है। भोगोपभोग विपाक्त पकवानो के समान है। वे क्षण-भर सुख का आभास कराते है, और दीर्घकाल तक घोर दु ख देते है। इन दु खो से रक्षा करने के लिए ही तो सम्यक्-चारित्र रूपी कवच धारण किया जाता है। इस कवच को धारण करके यदि भोगाकांक्षा रूपी अग्नि मे कूदने के लिए कोई तैयार हो, तो उसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? धूलि-धूसरित हाथी ने स्नान किया और स्नान करने के पश्चात् तत्काल ही फिर अपने सारे शरीर पर धूल बिखेर ली। ऐसी अवस्था मे वह हाथी कैसे स्वच्छ रह सकता है ? जिस वस्तु के सेवन से रोग की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। उसी का सेवन कर के रोग का विनाश करने की इच्छा करना, उन्मत्त-चेष्टा ही कही जा सकती है। यही बात चारित्र के फल की इच्छा करने के सबंध मे कही जा सकती है।

स्वार्थलिप्सा और कीर्तिकामना यह दोनों आकाक्षा के प्रधान अग है। आज अधिकाश जनसमूह इन्हीं अगों के वशवर्ती हो कर दान-पुण्य की प्रवृत्ति करते है। स्वार्थ से प्रेरित होकर वे कहते है—भाई, लो तुम्हे यह रुपये-पैसे देता हूँ। समय पड़ने पर इसके बदले तुम हमारा अमुक-अमुक काम कर देना। कई लोग कीर्ति के कीचड़ मे फँसकर अपने दान के प्रभाव को कलंकित करते हैं। वे जहां और जिस प्रकार अधिक से अधिक कीर्ति

प्राप्त हो सकती है वही दान देते हैं। एक बार दान देकर अनेक बार उसकी घोषणा करते हैं। और प्रकारान्तर से कीर्ति के साथ कीर्ति के अंडे-बच्चे भी कमाते हैं। शुद्ध त्याग-भाव-निष्काम अर्पण की महत्ता को उन्होंने समझा नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे विकारों से, और ऐसे विचारों से सदा पृथक् रहता है। वह दान पुण्य धर्म-क्रियादि जो भी प्रवृत्ति करता है उसमें निरपेक्षता निष्कामता अनाकांक्षा और स्वाथ-हीनता ही विद्यमान रहती है। और इसी से उसे वह अनुपम और अपरिमित फल होता है, जो कामना-पिशाची के अधीन पुरुषों को नसीब नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह निःकांक्षित अंग का पालन करके अपने अमूल्य हीरे सम्यक्त्व की रक्षा करे।

सम्यक्त्व का तीसरा अंग 'निर्विचिकित्सा' अर्थात् घृणा न करना है। कर्मों के फल सभी को भोगने पड़ते हैं। उनका साम्राज्य अखंड है। चाहे कोई निर्धन हो या सधन हो, रंक हो या राजा हो, योगी हो या भोगी हो, कोई भी कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नही पा सकता। अतएव किसी सदाचारी गृहस्थ या मुनि को या अन्य किसी भी व्यक्ति को कर्म के उदयसे कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो उसे देख कर घृणा नही करनो चाहिए। जो लोग कर्म के फल को भुगत रहे हैं, उन्हे देख कर हम नये कर्मों का वन्ध क्यों करें? रोगी मुनि हो, तो उन्हें देख कर हमें यही भावना करनी चाहिए, कि धन्य है ये मुनिराज, जो घोर वेदना सहन कर के भी मुनि-धर्म का दृढ़ता के साथ पालन कर रहे हैं। रोगी यदि गृहस्थ हो तो सोचना चाहिए कि इस प्रकार की विषम और प्रतिकूल परिस्थिति मे भी, यह अपने गृहस्थ-धर्म का पालन किस तत्परता के साथ कर रहे है? जो विपत्ति में भी अपने धर्म पर

अविचल रहते है, वही इस लोक मे अपने यश और कीर्ति के द्वारा अमर रहते है और मुक्ति को प्राप्त करके भी अजर-अमर बन जाते है। वे संसार मे नहीं रहते, फिर भी उनका सुन्दर आदर्श भव्य जीवो के लिए पथ-प्रदर्शक होता है। उनके चरित से अनेक प्राणी प्रेरणा प्राप्त कर प्रशस्थ पथ मे प्रयाण करते है। जो लोग शारीरिक कष्ट आने पर धर्म को एक किनारे रख देते है, वे क्या शरीर को नित्य बना पाते है? क्या उनका शरीर सदा विद्यमान रहता है? फिर शरीर-रक्षा के निमित्त धर्म का परित्याग कैसे किया जा सकता है? शरीर तो पुन. पुन. मिलता रहता है और यदि न मिले तो सर्वोत्तम बात है। पर धर्म तो बड़ी कठिनाई से मिलता है। धर्म की रक्षा के लिए एक क्या हजारो शरीरों का त्याग करना भी अनुचित नहीं है।

शरीर-रचना की मूल भित्ति पर विचार करने से विदित होगा, कि वह कैसे-कैसे अपवित्र पदार्थों से बना है और कैसे अशुचि पदार्थ उसमे भरे हुए हैं। चर्म-मय चादर से ढके हुए शरीर को उघाड़ कर भीतर देखा जाय, तो उस मे मास. रुधिर. अस्थि, मल, मूत्र, आदि के अतिरिक्त और क्या भरा हुआ है? बाहर से देखो, तो मल-मूत्र बहाने वाली नौ नालियां दिखाई देती है। शरीर मे जो सौन्दर्य कल्पना की जाती है, वह केवल चमड़े पर आश्रित है। ऐसी अवस्था मे यदि मुनि का तन ऊपरी रज-प्रस्वेद आदि से मलिन दिखाई देता है तो घृणा करने की कौन सी बात है? उनकी आत्मा मे जो लोकोत्तर गुण विद्यमान है वही आदर और प्रतिष्ठा के योग्य हैं। आत्मा तो शरीर से सर्वथा भिन्न है। अत एव शरीर की स्थायी मलिनता से घृणा न करते हुए, हमें मुनियों के आत्मिक उज्ज्वल और पवित्र गुणों पर अनुराग रखना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे श्री नन्दिषेण मुनि की कथा अत्यन्त उपयोगी है। वह इस प्रकार है :—

नन्दिषेण मुनि ज्ञान और चारित्र के भंडार थे। किन्तु उन में सेवा-भाव की मात्रा इतनी अधिक थी, कि उनके रोम-रोम से आदर्श सेवा भाव का प्रदर्शन होता था। सेवा करने में उन्हें आनन्द अनुभव होता था। वे बड़े चाव से सेवा मे तत्पर रहते और रोगी को देख कर कभी घृणा तो करते ही न थे। उनकी इस आदर्श और निष्काम सेवा की प्रशंसा धीरे-धीरे स्वर्ग तक जा पहुँची। एक वार देवराज इन्द्र ने भी मुनि नन्दिषेण की अनुपम सेवा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पर सब मनुष्यों की भांति सब देवों की प्रकृति भी एक-सी नही होती। अतएव इन्द्र की सभा मे उपस्थित, दो देवताओ को इन्द्र का कथन अत्युक्ति पूर्ण जान पड़ा। उन्हे मुनि के सेवाभाव पर विश्वास न हुआ और उन्होंने परीक्षा करने का निश्चय किया। दोनों देव स्वर्गलोक से परीक्षा करने के निमित्त प्रस्थान कर मध्यलोक मे आन पहुँचे। दोनों ने मुनिवेष धारण किया। एक तोंद फुला कर पड़ रहा और दूसरा नन्दिषेण मुनि के बिलकुल समीप जा पहुँचा। श्री नन्दिषेण मुनि उस समय आहार लेकर लौटे थे। वे आहार करने के लिए तत्पर होकर हाथ बढ़ा ही रहे थे, कि इतने मे उस मुनि-वेषी देव ने डांट कर कहा—अरे आहार लोलुप! तुझे पता नही, कि यहां से नजदीक ही एक मुनिराज अस्वस्थ पड़े है। वहां जाकर उनकी खोज-खबर तो ली नही और आहार गटकने बैठगया! इस पर भी अपने को सेवाभावी कहते हुए तुझे संकोच नही होता? यही आदर्श सेवापरायणता है? धन्य ह तुम्हारी सेवा-प्रियता!

मुनिवेषी देव की उत्तेजनापूर्ण बातें सुन कर नन्दिषेण बड़ी शान्ति से बोले—"मुनिजी, मुझे नहीं ज्ञात है, कि कोई मुनिराज ग्लान अवस्था में यहाँ कहीं मौजूद हैं। यह तो अभी-अभी आपके मुखारविन्द से सुन रहा हूँ। सचमुच अज्ञातभाव से मुझ से यह अपराध बन गया है? मैं हृदय से पश्चाताप करता हूँ। अनुग्रह कर बताइए, ग्लान मुनि कहां है? मैं उन्हें पहले ही संभाल लेना चाहता हूँ।'

मुनिराज नन्दिषेण इस प्रकार सौम्य वचन कह कर आहार ग्रहण किये बिना ही उठ कर चले। जब वे वहां पहुँचे, तो वह बीमार बना हुआ मुनि-वेषी देव बोला—"नंदिषेण जी! आपके सेवाभाव की तो बड़ी प्रशंसा सुनी है। पर क्या कारण है, कि आपने मेरी सुधि ही न ली?'

नन्दिषेण मुनि ने विनम्र भाव से क्षमा-याचना की और तब मधुर स्वर से बोले—'मुनिनाथ! योग्य सेवा का आदेश दे कर कृतार्थ कीजिए।'

देवमुनि—आदेश की आवश्यकता ही क्या है? देखते तो हो, मुझे वमन-पर वमन और दस्त-पर-दस्त हो रहे हैं। नगर में जाकर जल ले आइए। मुझे शरीर स्वच्छ करना है।

नन्दिषेण मुनि, ग्लान मुनि की आज्ञा शिरोधार्य कर, नगर में पहुँचे. मगर देव ने अपनी विक्रियाके बल से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी, कि वे जहां भी गये, अकल्पनीय पानी ही मिला। क्योंकि देव, नन्दिषेण मुनि की परीक्षा करना चाहता था और किसी भी व्यक्ति के आदर्श गुण की परीक्षा तभी होती है, जब उसे कठिनाई में डाला जाय। जो कोटिश. विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर भी अपने सद्गुण का त्याग नहीं करता, जो अपने सत्संकल्प से

लेशमात्र भी च्युत नहीं होता और जो ग्रहण किये हुये सन्मार्ग में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है, वही कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। और जो इस प्रकार की परीक्षा मे उत्तीर्ण होता है, उसी को कीर्ति-कामिनी स्वेच्छा से वरण करती है, वही अपने उद्देश्य के चरम भाग को प्राप्त करता है और सिद्धि उसके हाथ का खिलौना बन जाती है। श्री नंदिषेण मुनि अपने संकल्प के पक्के थे। वे इधर-से-उधर और उधर-से-इधर बहुत घूमे। फिर भी कल्पनीय जल उन्हें प्राप्त न हो सका। कही द्वार बंद मिला कही घर सूना दिखाई दिया, कही प्रासुक जल ही न मिला और कही मिला भी तो सचित्त वनस्पति आदि से स्पष्ट मिला। यह सब मुनि के लिए अकल्पनीय था। तात्पर्य यह, कि वे सर्वत्र घूमे, पर कहीं योग्य पानी न पा सके। अन्त मे उदास होते हुए वे वापिस लौटे। देवमुनि के समीप पहुँच कर उन्होने समग्र वृतान्त कह सुनाया।

देवमुनि तमक कर बोला—अरे इतना विलम्ब होगया, जो गये सो वही के हो रहे। लाओ मुझे पानी की शीघ्र ही आवश्यकता है।

नन्दिषेण मुनि बोले—"महाराज! अपराध की क्षमा चाहता हूँ। मैने अपनी शक्ति भर प्रयत्न किया। बहुत भ्रमण किया। समस्त नगर में चक्कर काटा। पर कल्पनीय जल कहीं न मिला। महाराज आज मेरा भाग्य मंद हो गया। मुझ से आपकी सेवा न बन पड़ी। अब कृपा कर नगर के सन्निकट पधारिये। वहाँ फिर जल की गवेषणा करूँगा।"

देवमुनि—'नन्दिषेणजी, आपके भाग्य के साथ ही साथ आपका विवेक भी मंद पड़ गया मालूम होता है। देखते नहीं, इस अवस्था मे, मै गमन करने मे अशक्त हूँ। मुझ से एक पैर भी पैदल नहीं चला जाता है।"

नन्दिषेण—'महाराज ! कृपा कर मेरे कंधे पर विराजमान-सवार हो जाइए।'

देवमुनि श्री नन्दिषेण के कंधे पर सवार हो गया। उसने अपनी विक्रिया के द्वारा मुनि पर कै, दस्त करना आरंभ कर दिया। मुनिराज का समग्र शरीर कै दस्त से लथपथ हो गया। फिर भी नन्दिषेण मुनि के ललाट पर सिकुड़न तक न आई। उनका मन तनिक भी मलिन न हुआ। घृणा उनके पास भी न फटक पाई। वे अपने सेवाभाव से रंचमात्र भी विचलित न हुए। उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट झेल कर भी मुनिवेषी देव के उपचार से मुँह न मोड़ा।

श्री नन्दिषेण मुनि का आदर्श युग-युग मे अमर रहेगा। आधुनिक काल मे जगह-जगह पर औषधालय और चिकित्सालय स्थापित किये जाते हैं। पर वहाँ इस प्रकार के आदर्श सेवाभाव की कमी दृष्टिगोचर होती है। इन चिकित्सा गृहो मे यदि उपचार के साथ-साथ सेवा के प्रति इतना उत्कृष्ट अनुराग उत्पन्न हो जाय, तो सोने मे सुगंध की कहावत चरितार्थ होने लगे। अस्तु। प्रयोजन यह है कि मलिन तन आदि देख कर घृणाभाव न उत्पन्न हो और गुणों की ओर दृष्टि आकृष्ट हो जाय। यही सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सा अंग है।

सम्यक्त्व को भूषित करने वाला चौथा अंग है, 'अमूढ़दृष्टि'। देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप को न पहचानना मूढ़ता है। सच्चे देव को कुदेव और कुदेव को सच्चा देव मान लेना, वास्तविक गुरु को कुगुरु और कुगुरु को वास्तविक गुरु स्वीकार करना, सुधर्म को कुधर्म और कुधर्म को सुधर्म समझ बैठना, यह मूढता का स्वरूप है। पचाग्नि तप तपना जल मे समाधि लगाना,

शरीर पर भस्म लगा कर अपने को तपस्वी घोषित करना, नाना प्रकार के विवेकहीन काय-क्लेश सहन करना, आध्यात्मिक दृष्टि के बिना वहिर्भाव से लंघन करना आदि मूढ़ता है। सम्यग्दृष्टि जीव मे दृष्टि की निर्मलता का इतना विकास हो जाता है, कि वह मूढ़ताओं का शिकार कदापि नही होता। वह देव आदि के स्वरूप पर गहरा विचार करता है और तब श्रद्धा या आचरण करता है। वह जानता है, कि पदार्थ के सच्चे स्वरूप को पहचानने मे तथा उसके परीक्षण मे कदापि हिचकिचाना नही चाहिए। जो किसी ने कह दिया, सो ठीक है, ऐसी कल्पना करते हुए 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार सत्य नही मान लेना चाहिए। धर्म के विषय मे खूब सतर्क, सावधान, मननशील और परीक्षा परायण होना चाहिए। इसी से सम्यक्त्व स्थिर रहता, भूषित होता और वृद्धिगत होता है। इस प्रकार लोक-मूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्म-मूढ़ता, देव मूढ़ता आदि से रहित विवेकपूर्ण श्रद्धा रखना ही अमूढ़दृष्टि अंग है।

अमूढ़दृष्टि अंग मे रेवती रानी का उदाहरण प्रसिद्ध है। चन्द्रप्रभा नामक एक विद्याधर ने त्रिगुप्ताचार्य से गृहस्थ धर्म धारण किया था। इस विद्याधर की प्रकृति ऐसी थी, कि वह सामान्य या असामान्य किसी बात को भी बिना सोचे-विचारे स्वीकार न करता था। एक बार वह मथुरा जा रहा था। उसने गुरु महाराज से पूछा—'महाराज मै मथुरा जा रहा हूँ। वहा के योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिए।'

मुनिराज—'सुव्रत नामक अनगार वहा पर है। मेरी ओर से उन्हे सुख-साता पूछना और रेवती रानी को धर्म-वृद्धि कह देना।'

विद्याधर ने सोचा—देखो, मथुरा मे भव्यसेन नामक मुनि

भी विराजते है, उनके संबंध में इन्होंने कुछ भी नहीं कहा—उनका स्मरण भी नहीं किया और रेवती रानी को धर्मवृद्धि का सदेश भेज रहे है। इसमे क्या रहस्य है? गुरुजी के मन मे किसी प्रकार का राग द्वेष तो नहीं है? खैर, वहां चलें और इस रहस्य का पता लगाएँ। इस प्रकार शंकाशील होता हुआ विद्याधर वहा से रवाना हुआ। मथुरा पहुँचा और सुव्रत मुनि की सेवा मे उपस्थित हुआ। उसने यथाविधि वन्दना की, उपदेश सुना और अंत मे वहा से विदा होकर भव्यसेन मुनि के पास पहुँचा। वे उस समय शौच-निवृत्ति के लिए बाहर जा रहे थे। वह विद्याधर भी उन्हीं के साथ हो लिया। उसने सोचा—देखें, इनका महाव्रतों के प्रति कैसा भाव है, किस सीमा तक यह उनका पालन करते है। इस प्रकार सोच कर विद्याधर ने अपने विद्यावल के द्वारा मुनि भव्यसेन के मार्ग मे सब्जी-ही-सब्जी फैला दी और आप स्वयं कहीं एक ओर छिपकर बैठ रहा। मुनिराज उसी मार्ग से गमन करते दिखाई पड़े। वे हरितकाय देख कर भी दूसरे मार्ग से जाने को उद्यत न हुए। और अन्त मे हरितकाय को कुचलकर आगे चले गये। विद्याधर उनका यह शास्त्र-बाह्य व्यवहार देख कर विस्मित हुआ। अब उसे विदित हुआ, कि गुरु महाराज ने भव्यसेन जी का स्मरण क्यों नहीं किया था? वास्तव मे वे चारित्र-भ्रष्ट थे। वेप से मुनि होकर भी भाव से मुनि न थे।

विद्याधर ने सोचा—चलो लगे हाथों रेवती रानी की भी परीक्षा कर लें। वह परीक्षा के लिए चल दिया। उसने नगर के फाटक पर जाकर एक ऐसा रूप बनाया, कि दुनिया उसे देखने दौड़ पड़ी। पर धर्मपरायण रेवती रानी उसे देखने न आई। दूसरे दिन

उसने अन्यतीर्थी देव का रूप बनाया और नगर के दूसरे फाटक के पास अपना अखाड़ा जमाया। नगर-निवासी प्रथम दिन की भांति झुंड के झुंड उसकी सेवा मे उपस्थित हुए। पर रानी आज भी न आई। तीसरे दिन वह तीसरे फाटक पर डट गया। आज भी लोग आये, पर रेवती कहीं दिखाई न दी। इससे विद्याधर समझ गया, कि रानी रेवती जिनधर्म मे दृढ़ है। फिर भी उसने प्रयत्न न छोड़ा और परीक्षा करना चालू रखा। अब की बार उसने तीर्थंकर का रूप बनाया और चौथे फाटक के समीपवर्ती उद्यान मे ठहरा। लोग आज भी तीर्थंकर के दर्शन के लिये बड़े अनुराग से आये। रेवती रानी के पास भी संदेश भेजा गया, कि आज तो उसी धर्म के उपदेशक तीर्थंकर भगवान पधारे है, जिस धर्म पर तुम दृढ़ श्रद्धा रखती हो और जिसके अनुसार प्रवृत्ति करती हो। उनके दर्शन करके तो अपना जीवन सार्थक करो। पर रेवती रानी कच्ची न थी। वह जैसी श्रद्धालु थी, वैसी ही विवेकशीला और विदुषी भी थी। उसने उत्तर दिया—'अभी तीर्थंकर भगवान् के होने का समय ही नहीं हुआ है। यह तीर्थंकर बीच मे कहां से टपक पड़े ? जान पड़ता है, यह कोई ढोंगी पुरुष है, जो धर्मप्राण पुरुषों की श्रद्धा का दुरुपयोग कर रहा है। मै ऐसे जाल मे फॅसने की नही।' यह उत्तर देकर वह अपने धर्म में निश्चल रही। वह कल्पित तीर्थंकर के पास न गई। रानी के इस कौशल और श्रद्धान से विद्याधर को विश्वास हो गया, कि सचमुच रानी अपने धर्म की पक्की है। वह मायावियो के बहकावे मे पड़ कर अपने स्वीकृत धर्म से तनिक भी च्युत नही हो सकती।

रानी की परीक्षा हो चुकी। वह परीक्षा मे पूर्ण रूपेण उत्तीर्ण

हुई। विद्याधर रानी के पास आया। उसने उसके धर्म-प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर गुरु महाराज का संदेश सुनाया। रानी ने गुरु देव के परोक्ष में ही भाव-वन्दना की।

सामान्य अवसरों पर तो सभी धर्मपरायण कहलाते हैं, पर सच्ची धर्मपरायणता का पता विशेष अवसरों पर ही चलता है। जब अनेक प्रकार के प्रलोभन आकर भी किसी को अपने ध्येय से—अपने धर्म से नहीं डिगा सकते, तभी धार्मिकता की पहचान होती है। रानी रेवती में जिनधर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी और वह श्रद्धा भी विवेक से परिपूर्ण थी। वस्तुतः श्रद्धा के साथ विवेक का मिश्रण न होने से श्रद्धा के महत्व में न्यूनता आ जाती है। और कभी-कभी तो वह श्रद्धा दुराग्रह का रूप धारण कर लेती है। अतएव सम्यग्दृष्टि को सब प्रकार की मूढ़ताओं से बचकर विवेकशीलता का अवलम्बन लेना चाहिए और जो कोई कार्य वह करे अपने विवेक की तुला पर, तोल कर ही उसे करना चाहिए।

सम्यक्त्व का पाचवां अंग है—'उपगूहन'। संसार में प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है। प्रत्येक प्राणी में गुणों और दोषों का अस्तित्व है। न तो कोई दोषों से सर्वथा अछूता है और न कोई एकान्ततः दोषों का ही भंडार है। हम जिसे आदर्श, विद्यावान्, सदाचारी और गुणवान् समझते हैं उसमें भी किसी-न-किसी दोष की वृत्ति है। दोषों का सर्वथा अभाव हो जाने पर, तो जीव संसार-सागर को तिर जाता है। और जिसे हम अवगुणी, दोषी, आदि समझते हैं, उसमें भी खोज करने पर किसी-न-किसी गुण का अस्तित्व पाया जाना अनिवार्य है। अनेक मनुष्य दोषों से बचने का पूर्ण प्रयास करते हैं। पर कर्मोदय के कारण वे उनसे बच नहीं पाते हैं। इस परिस्थिति में मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह दूसरे के राई

भरे दोष को सुमेरु बनाकर प्रकाशित न करे और न उसका अपमान करने के अभिप्राय से दोषों को प्रकाशित करे। वरन किसी का दोष यदि हमारे ध्यान मे आए, तो उसे ढक लेना ही हमारा कर्त्तव्य है। उस समय हमे विचारना चाहिए, कि 'मनुष्य मात्र भूल का पात्र है। खूब सावधानी रखने पर भी—परिमित ज्ञान और परिमित चरित्र—शक्ति के कारण भूल हो सकती है।' ऐसा विचार कर, जिसका दोष हमे ज्ञात हुआ है, उसे एकान्त मे समझा दिया जाय।

यहा यह प्रश्न हो सकता है, कि दोषों को छिपाने से दोषो की वृद्धि होगी, गुणों का ह्रास होगा और इस प्रकार उस दोषपात्र व्यक्ति की भी परिणाम मे हानि ही होगी। तब क्यों न दोषो को प्रकाशित कर दिया जाय? पर इस प्रश्न मे जो दृष्टि है, वह ठीक नही है। बहुत बार किसी व्यक्ति के सामान्य दोषों का सर्व-साधारण मे विशेष रूप से घोषणा करने से वह व्यक्ति जनता की दृष्टि मे गिर जाता है। फिर वह दोष-संशोधन कर के भी अपना पूर्व-स्थान नही पाता। इस प्रकार उसके साथ अन्याय होता है। दूसरे, जनता की दृष्टि मे, पतित होने के कारण, उस व्यक्ति मे, एक प्रकार की हीनता का भाव, प्रविष्ट हो जाता है। वह हीनता का भाव धीरे-धीरे उसे अधिकाधिक हीन बनाता है। और अन्त मे वह समुचित पतित बन जाता है। तीसरे दोषपात्र व्यक्ति जिस समाज, सम्प्रदाय या जाति का होता है, उस समाज-सम्प्रदाय और जाति मात्र की अवहेलना होती है। लोग समझने लगते है,—देखो ऐसे-ऐसे गुणी समझे जाने वाले व्यक्ति भी, जब इस प्रकार दोषो के पिंड है, तो हम भी यदि दोषी हो तो क्या हानि है? इस प्रकार की विचार-धारा दोषों की वृद्धि करती है,

और गुणों का ह्रास करती है। रहा यह, कि दोषों का निवारण किस प्रकार किया जाय? सो उसका उत्तर पहले ही आ चुका है, कि दोषपात्र व्यक्ति को एकान्त मे सावधान कर देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। जो दूसरे के दोषों को देखता है, वह इतना दोषदर्शी या छिद्रान्वेषी बन जाता है, कि उसे गुण तो दृष्टिगोचर नहीं होते, केवल दोष ही दिखाई देते है। इससे उसका हृदय कलुषित हो जाता है। अतएव सम्यक्त्वधारी पुरुष का कर्त्तव्य है, कि वह छिद्रान्वेषी न बने और विशेषत. स्वधर्मी जनो के दोषों का उपगूहन करे ताकि मार्ग की प्रतिष्ठा भंग न हो।

मणिभूप नामक नरेश जैन धर्म का कट्टर अनुयायी था। वह अपने सिद्धान्तों का खूब दृढ़ता के साथ पालन करता था। वह प्रति दिन सामायिक करता था। सामायिक मे कभी वह नागा न करता था। कठिन से कठिन विपत्ति या व्यग्रता के समय मे भी वह सामायिक के लिये समय निकाल लेता, और उस समय अत्यन्त शान्ति और प्रसन्नता के साथ सामायिक करता था। सामायिक, प्रतिक्रमण और पौषध आदि धर्मकृत्यों के लिये, उसके यहां एक पृथक् ही भवन बना हुआ था। वह उन पौषधशाला से नियत समय पर जाता और उस समय समस्त झगड़े विसार कर धर्मध्यान मे मग्न हो जाता था। जीव-जन्तु की विराधना से बचने के लिए उसने पौषधशाला मे एक प्रकाशमान मणि रख छोड़ी थी। मणि का प्रकाश इतना तीव्र था, कि उसके सामने अन्य सभी प्रकाश तिरोहित हो जाते थे। उस उज्ज्वल प्रकाशोपेत मणि की महिमा, जगत्-विख्यात हो चुकी थी। एक अन्य नरेश ने उस मणि की प्रशंसा सुनी, तो वह उस पर मोहित हो गया। उसने

अपने एक चतुर और विश्वासपात्र सेवक को बुलाया और किसी उपाय से मणि हथिया लेने का आदेश दिया। सेवक ने मणि को उड़ा लाने का विश्वास दिलाया और मन में षड्यन्त्र की रचना करने लगा। अन्त में, उसने बारह व्रतधारी श्रावक का वेष धारण किया और मणिभूप के दरबार मे जा पहुँचा। राजा मणिभप ने, एक बारह व्रतधारी श्रावक को, अपने यहां आया हुआ जानकर आन्तरिक आल्हाद व्यक्त किया और उसका यथा योग्य आदर-सत्कार किया। रात हुई। जब नगर सुनसान हो गया, सब ने शय्या का शरण लिया तब वह धूर्त मणि लेकर चम्पत हो गया। वह छिपता-छिपता चला जा रहा था कि नगर रक्षकों ने उसे पकड़ लिया। यह वृत्तान्त राजा के पास पहुँचा। राजा अत्यन्त विवेकशील और सम्यग्दृष्टि था। उसने यह अभियोग अपने हाथ मे ले लिया। उसने सोचा, यदि सर्व-साधारण के समक्ष इसका न्याय किया जायगा, तो इसके कुकृत्य के कारण श्रावक-मात्र की, और साथ ही जैन-मार्ग की भी निन्दा होगी। अन्त मे राजा ने किसी प्रकार चातुर्य से मामला समाप्त कर दिया और किसी के मन मे यह बात न आई, कि बारह व्रतधारी श्रावक भी चौर्य-कर्म करते है। राजा ने उस चोर को यद्यपि मुक्त कर दिया, पर सख्त चेतावनी भी दे दी, और इस नरम न्याय का चोर के हृदय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

हा, दोषो के उपगूहन मे भी विवेक की आवश्यकता है। उपगूहन अग का पालन करते समय, यह भी विस्मृत न करदेना चाहिये, कि किसी विशेष परिस्थिति मे ऐसा कृत्य भी न बन जाय कि सचमुच दोषों को प्रोत्साहन मिले और दोषी एवं धूर्त लोग उपगूहन की शीतल छाया मे बैठकर, उच्छृङ्खलता धारण कर लें।

सम्यक्त्व का छठा अंग 'स्थितिकरण' है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्‌चारित्र से किसी कारण-वश विचलित होने वाले साधर्मी को पुनः सम्यग्दर्शन या चारित्र मे स्थापित करना स्थितिकरण है। संसार मे वहुत से अनुकूल और प्रतिकूल प्रलोभन है। इन्द्रिया और मन सदा विषयों की ओर आत्मा को घसीट ले जाने के लिये उद्यत है। धर्मात्मा प्राणी बहुत सम्भल सम्भल कर चलता है, इन्द्रियों और मन पर पूरा नियन्त्रण रखता है। फिर भी अनादि काल के सासारिक संस्कारों का, अज्ञात रूप से उदय हो जाता है। उस समय आत्मा अपने दर्शन-चारित्र के मार्ग से डिगने लगता है। यदि कोई दूसरा धर्म-परायण व्यक्ति ऐसे समय मे सहायक हो जाय और उसे फिर धर्म मे निष्ठ बना दे, तो न केवल वह दूसरे का ही उपकार करता है, वरन् आत्मा का भी कल्याण करता है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव यह समझकर कि निज धर्म—जिन धर्म अर्थात् आत्म-धर्म की ओर अभिमुख होना और पर-धर्म अर्थात् इन्द्रिय-धर्म से सर्वथा विमुख होना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है, स्थितिकरण का सदैव ध्यान रखना है। जो लोग किसी प्रकार की निर्बलता मे पड जाते है, उन्हे स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि का यथार्थ स्वरूप समझा कर अथवा अन्य प्रकार से धर्म-स्थित बनाना सम्यक्त्व का भूषण है। जो महाभागी, इस भूषण से भूषित होता है, वह तीसरे, सातवे या आठवे जन्म मे अवश्यमेव मुक्ति का स्वामी बनता है। यह सर्वज्ञ भगवान का कथन है। अतः इस मे शंका को कोई स्थान ही नहीं है।

जो पुरुष, धर्म-पतित बन्धुओ को अपने तन-मन धन-ज्ञान आदि द्वारा किसी भी प्रकार समझा-बझाकर दृढ़धर्मी और प्रिय-

धर्मी बनाते है, उनका जीवन, जन्म और धन वस्तुतः सार्थक होता है। शिथिल व्यक्तियों को फिर से दृढ़ बनाने के लिए, पूर्ण शक्ति का प्रयोग करना महान् उपकार का कार्य है। जैसे रोगी को वैद्य का सहारा मिल जाने पर वह रोग से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार अपने अज्ञान या शैथिल्य के कारण जो आध्यात्मिक हीनता की ओर अग्रसर हो रहे हैं, उन्हें यदि थोड़ा भी सहयोग मिल जाय, तो वे भी पुनः सन्मार्ग पर आ सकते है। अतएव धर्म से पतित हुए व्यक्तियों से घृणा करना, उनसे परहेज करना, उन्हें धुत्कारना घोर अज्ञानता एवं अधार्मिकता है। इसके विरुद्ध शिथिलाचारी, पथभ्रष्ट और पतित व्यक्तियों को प्रेमपूर्वक गले लगाना, उन्हें सान्त्वना देना, सहयोग देना, उनकी रक्षा करना, सम्यक्त्वधारी का प्रथम और आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग अपने इस कर्त्तव्य का पालन नही करते, वे धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा नही रखते। वे पतित प्राणियों के और अधिक पतन मे निमित्त बनते है। लोक मे अनेक ऐसी घटनाएँ देखी और सुनी जातीं है, जिनसे यह ज्ञात होता है, कि बहुत-से स्त्री-पुरुष अपनी थोड़ी सी प्रारंभिक असावधानी के कारण, संयम या नीति मर्यादा से गिरे, तो दूसरों ने उसके साथ अयोग्य एवं निंद्य व्यवहार किया, कि वे अधिक पतन की ओर अग्रसर हुए, ऐसा होने से उस व्यक्ति का ही अहित नही हुआ, किन्तु संघ की मर्यादा और शक्ति भी क्षीण हुई है। इस प्रकार करने वाले लोग, अपने को धर्मात्मा घोषित करते हुए भी वास्तविक धर्मात्मा नही है। सच्चा सम्यग्दृष्टि पतितो के उद्धार के लिए शक्ति भर प्रयत्न करता है। धर्म, पतितों को पावन बनाने के लिए ही है। यदि वह पतितों का उद्धार न करता, तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि अपने विशाल साम्राज्य को।

तिनके की तरह त्याग कर क्यों धर्म की शीतल छाया मे आते ? बड़े-बड़े पतित प्राणियों का उद्धार असंभव न हो जाता ? अतएव आप लोग पतितो को सहारा दे, उन्हे धर्म की ओर उन्मुख करे। उनसे कदापि घृणा न करें, न उपेक्षा ही करें।

आपाढ़भूति नामक एक आचार्य अपनी शिष्यमंडली के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए एक वार भूमिपुर मे पधारे। वहां उनकी विचार-धारा इधर-उधर वहती हुई स्वर्ग-नरक आदि की ओर अग्रसर हुई। उन्हे सदेह हुआ, स्वर्ग-नरक वास्तव मे हैं, या नहीं। हम भिक्षु तीव्र तपश्चर्या आदि के जो कष्ट भोग रहे है, उनका कुछ फल मिलेगा कि नहीं ? परलोक है या नहीं ?

इन्हीं दिनो उनके एक शिष्य ने अपने अंतिम समय मे, संथारा किया। आचाय ने उससे कहा—देवानुप्रिय ! तुम्हारा यह भव अब समाप्त होने वाला है। यदि तुम स्वर्ग मे जाओ तो, एक वार आकर मुझ से अवश्य कह जाना। बोलो, कह जाओगे ?

शिष्य ने विनीत भाव से कहा,—आर्य ! क्यो नहीं ? मै अवश्य आपकी सेवा मे उपस्थित होऊँगा और अपने नव-जीवन का वृतान्त सुनाऊँगा।

शिष्य, कालधर्म करके स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ। स्वर्ग मे पहुँचते ही, वहां के अनुपम दृश्यों में, दिव्य भोगोपभोगों मे और नाटक आदि देखने मे, वह तल्लीन हो गया। वह अपनी प्रतिज्ञा भूल गया। गुरुजी के पास वह न गया। इधर उसके न आने से, आचार्य का संशय अधिक उग्र हो गया। उसके कुछ दिनों पश्चात् एक दूसरा शिष्य स्वर्गवासी हुआ। आचार्य ने, उससे भी अपने पास आने, का वचन ले लिया था, पर वह भी लौटकर न आया। यथा समय तीसरे-चौथे शिष्य से भी उन्होंने यही कहा। पर वे भी अपने

उत्तर जन्म का वृतान्त कहने न आये। इन घटनाओं से आचार्य का संशय बढ़ा ही नही, किन्तु वह विपर्यय-समारोप के रूप में परिणत हो गया। उन्हें यह विश्वास होगया कि वास्तव में नरक, स्वर्ग आदि की कथाएँ कल्पित हैं। मैने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए वृथा ही संयम का भार स्वीकार कर इतने दिनों मुसीबते सहन की। मुक्ति की मृग-मारिचिका के पीछे निरर्थक ही अब तक भागा फिरा। अब प्राप्त हो सकने वाले सुखों का परित्याग कर अप्राप्त सुखों के पीछे पड़ना उन्मत्त-चेष्टा है। मुझे यह झोली पात्रा फैंक कर ग्रहस्थाश्रम मे जाकर संसार के सुखो का अधिक से अधिक भोग कर लेना चाहिए।'

आचार्य इस प्रकार के विपरीत विचार-प्रवाह में प्रवाहित हो रहे थे, कि उनके चौथे शिष्य को, जो स्वर्गलोक में देव हुआ था अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया वह स्वर्ग से आया और आचार्य की गति-विधि का गुप्त रूप से अवलोकन करने लगा। उसने आचार्य के संयम की परीक्षा करने का संकल्प किया। यह संकल्प कर देव ने अपनी विक्रिया के वल से छः लघुवयस्क वालको का रूप वनाया। वे वालक बड़े सुन्दर और अंग-अंग मे आभूपणो से लदे हुए थे। छहों वालक क्रमशः एक के पीछे एक होकर जंगल मे आचार्य अपाढ़भूति के सामने आ रहे थे। छः वालको को वहुमूल्य आभूषणों से भूषित होते हुए भी विना किसी रक्षक के अकेले आते देख, आचार्य के मुँह मे पानी आ गया।

जगत मे शान्ति-व्यवस्था वनाये रखने के लिए अनेक साधन प्रयुक्त होते हैं। राजा, राजसत्ता और राजा के अधीन नगर रक्षक, सेना आदि सभी साधन विश्व मे शान्ति के लिए है। यद्यपि ये इन साधनो से शान्ति की रक्षा होती है परन्तु नीति और

धर्म की मर्यादा की सुरक्षा अंतरंग 'राजा' और अंतरंग 'पुलिस' से ही होती है। नरक मे जाने और वहाँ सागरोपमों तक घोर यातनाएँ सहने का भय मनुष्य को नीति और धर्म के आदर्शों से विचलित न होने देने मे, जितना सहायक है, उतनी सहायता राजसत्ता कदापि नही कर सकती। दृश्य वेदनाएँ मनुष्य को उतना पाप से नही रोकती, जितना अदृश्य वेदनाएँ रोकती है। यदि आज नरककी सत्ता को कपोल, कल्पना मानकर, जन साधारण के समक्ष उपस्थित किया जाय और साथ ही स्वर्ग के अस्तित्व को भी, अमान्य ठहरा दिया जाय तो मानव-समाज मे घोर विप्लव मच जायगा। मनुष्य इतना उच्छृंखल, इतना बेलगाम इतना स्वार्थी और इतना क्रूर बन जायगा कि यहीं नरक के दृश्य दिखाई देने लगेंगे। नरक की कल्पना होने हुए भी अधिकांश मनुष्य अपनी आयु पाप कर्मों में ही व्यतीत करते है। यदि स्वर्ग-नरक की कल्पना को उड़ा दिया जाय, तब कहना ही क्या है ? फिर क्यों लोग दूसरों की सेवा करे ? क्यों एक-दूसरे के सुख-दुख मे भाग ले ? क्यों परोपकार करे ? क्यों दूसरों को सुखी बनाने के लिये स्वयं कष्ट उठाएँ ? प्रेम, मैत्री, सहानुभूति दया, क्षमा, संयम आदि-आदि मनुष्य मे मनुष्यता उत्पन्न करने वाली जितनी भावनाएँ है, वे सब परलोक को अस्वीकार कर देने मात्र से कपूर की तरह उड जाएँगी, क्योंकि उनका कुछ भी फल न हो सकेगा। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार क्रूरता आदि भावनाओं से परहेज करने की आवश्यकता न रहेगी। फिर तो सभी अपाढ़भूति के सगे भाई बनेंगे और यही सोचेंगे, कि थोड़े दिनों की जिंदगी के लिये क्यों सदाचार-संयम-अहिंसा आदि के झंझट मे पड़े ? क्यों न आनंद से भोग-विलास

और राग-रंग करें ? दूसरे दुःखी हैं तो हों, हमे उनसे क्या लेन-देन है ? दूसरे भाड़ में जाएँ, हमे अपने स्वार्थ से मतलब है । इस प्रकार स्वर्ग-नरक आदि स्वीकार न करने से, सद्भूत वस्तु के निन्हव के साथ-साथ व्यावहारिक हानियां इतनी अधिक आ खड़ी होती हैं, जिनकी सीमा नहीं । इस कथन की सत्यता के प्रमाण, आचार्य अषाढ़भूति मौजूद है । जब तक वे स्वर्ग-नरक की सत्यता को स्वीकार करते थे, तब तक उनका आदर्श साधुतामय था । पर ज्यों-हीं उन्हें यह विपर्यास हुआ, कि स्वर्ग-नरक आदि कुछ नहीं है, त्यों-ही उनका जीवन एकदम औंधा होगया । जितना उन्नत था, उतना ही अवनत हो गया । पहले वे उच्च एवं पावन भावनाओं के उच्चतर गगन मे विहार करते थे, अब मलीमस एवं तामस विचारों के कीचड़ मे फॅस गये । उनके सम्यक्-चारित्र रूपी चारु चन्द्रमा को नास्तिकता रूपी राहु ने ग्रस लिया । अब तक उनके हृदय में दिव्य दया, अनुपम मैत्री, श्रेयस्कर संयम और लोकोत्तर आलोक था, पर विपरीत विचारों की आंधी आते ही, सब कुछ न जाने कहां चला गया ? अस्तु ।

अषाढ़भूति ने सुवर्ण-मणि-मंडित बालकों को देखकर सोचा, चलो, यह अच्छा ही हुआ, कि अनायास ही यह बालक मिल गये । बिना धन के गृहस्थी मे आनंद ही क्या धरा था ? अब इन बालकों को तो स्वर्ग पहुॅचादे और इनके आभूषणों को लेकर सुख से समय बिताऍ । बालक बिना किसी झिझक के, अषाढ़-भूति के समीप जा पहुॅचे । उन्होंने बालकों से पूछा—अरे तुम्हारा नाम क्या है ? अपनी श्रुतिसुखद तुतलाती बोली मे एक बोला—'मालाज ! हमाला नाम पिलथी काया,(पृथिवीकाय) ।' इसी प्रकार दूसरे ने अप् काया, तीसरे ने तेउ काया, चौथे ने वायु काया,

पाचवे ने वनस्पति काया और छठे ने त्रस काया, अपना नाम बताया। अपाढभूति सोचने लगे—पृथ्वी काया और अप् काया की बहुत दिनों रक्षा की है, पर वृथा! वह युग अब समाप्त हो गया। इस प्रकार विचार कर, उन्होंने एक बालक को पकड़ा और उसकी गर्दन मरोड़ी। बेचारा बालक बोल उठा—'मालाज! मालाज! यू काई कलो ? पर अपाढ़भूति अब महाराज नहीं थे उनके सिर पर शैतान सवार हो रहा था। बालक की करुणापूर्ण पुकार का उनके पाषाण-हृदय पर कुछ भी प्रभाव न हुआ। उन्होंने अधिक सोचे-विचारे बिना ही, बालक के प्राण ले लिये। इस प्रकार छहों बालकों की निर्दयता पूर्ण हत्या करके अपने पात्र आभूषणों से भर लिये। देव गुप्त रूप से सब दृश्य देख रहा था उसे अत्यन्त खेद हुआ। उसने सोचा—आचार्य के अन्त करण में करुणा का कण-मात्र भी अवशिष्ट नहीं बचा है।

देव ने अबकी बार एक आर्या का रूप धारण किया। वह नाना प्रकार के अलंकारों स अलंकृत होकर, आचार्य अपाढ़भूति के सामने होकर निकली। आचार्य ने कड़क कर कहा—'अरी आर्यिका! क्यों इस वेष को क्यों लजाती है ? क्या आर्या को गहने पहनना कल्पता है ? आर्या बोली—'महाराज! यह 'परोपदेश पाण्डित्यम्' मेरे आगे न चलेगा। मुझे गहने पहनना नहीं कल्पता तो क्या तुम्हे कोमल-वय बालकों की करुण हत्या करके उनके गहने पातरों में भरना कल्पता है ?' आचार्य ने यह अतर्कित उत्तर सुना, तो सिटपिटा गये। बोल बन्द होगया। चुपचाप नीचा मुँह किये, अपना रास्ता नापा। देव ने सोचा—अब तक आचार्य में कुछ-कुछ लाज का अंश मौजूद है। अभी पूरे मा-लाज (मा-नहीं, लाज-लज्जा, निर्लज्ज) नहीं हुए है, जैसा कि पहले

बच्चे ने कहा था। अभी इनके सुधार की सम्भावना है।

देव ने अब की वार अपनी विक्रिया से एक मायामय ग्रामकी रचना की। आचार्य जब उस ग्राम के समीप पहुंचे, तो कृत्रिम श्रावक-श्राविकाओं न बड़ी भक्ति प्रदर्शित कर उनका शानदार स्वागत किया। ग्राम मे पधारने और विराजने की प्रार्थना की। वे बोले-"मुनिनाथ ! आज हम बड़भागी है कि आपके पावन दर्शन मिले। आज हमारा जीवन धन्य हुआ, हमारे नेत्र सफल हुए, हमारे बड़े पुण्य का उदय हुआ। हम लोग आपके वचनामृत के पिपासु है। कृपा कर कुछ अमी-बून्द बरसाइये । हमारे क्षेत्र को पवित्र कीजिये।'

आचार्य असमंजस मे पड गये। सोचने लगे-'यह आफत कहा से गले पड़ गई। मै तो ग्राम का रास्ता छोड़ कर ऊँटपटाग रास्ते जा रहा था। इधर भी यह ग्राम निकल पडा। उन्होने टालमटोल करके अपना पिण्ड छुड़ाना चाहा। अत्यन्त अनिवार्य कार्य से आगे जाने का वहाना बनाकर ग्राम मे प्रवेश न करने की असमर्थता प्रगट की। पर श्रावक न माने, न माने। वे बोले-'महाराज ! यह असम्भव है। ऐसा कदापि न हो सकेगा। सन्त-मुनिराजो को क्या अनिवार्य कार्य है ? बेटा-बेटी का विवाह तो करना ही नही है। यदि किसी सन्त-महात्मा से मिलना हो, तो भी कृपा कर आहार-पानी तो यही कीजिये।'

आचार्य बोले—'श्रावको ! आप लोग समझते नही है। मुझे आगे जाना है और अभी इसी समय जाना है। मै थोड़ा भी न ठहर सकूंगा।'

महाराज इतना कह ही पाये थे, कि आग्रह करने के बहाने किसी श्रावक ने उनके पैर पकड लिए, किसी ने हाथ पकड़ लिये।

इस प्रकार खींचातानी शुरू हो गई। इस खिचातानी मे आचार्य के हाथ की झोली छिटक गई। सोने के आभूषण पातरों मे से निकल कर विखर गये। गहनो के विखरते ही श्रावक चौक उठे। वोले—'अरे! यह मामला क्या है?' एक ने कहा—'यह तो मेरे पृथ्वीकाया नामक वालक के गहने है।' दूसरा वोल पड़ा—'और यह गहने मेरे अप्काया नामक लड़के के हैं।' इस प्रकार भौचक्के होकर उन्होंने छहो के नाम वतलाये। आचार्य यह अनपेक्षित घटना देखकर लज्जा के मारे मानो गड़ गये। वे अपना मुँह ऊपर न कर सके। वे अपने कुकृत्य पर घोर पश्चात्ताप करने लगे। सोचा—धिक्कार है मुझे, जिसने साधुत्व के साथ मनुष्यत्व की भी हत्या कर डाली। सच पूछो, तो मैंने वालकों की ही हिंसा नही की, किन्तु धर्म-कर्म की, और अपने आत्मा की भी हिंसा कर डाली है। ऐसा घृणित और क्रूर कर्म करके मेरा जीवित रहना ही अकारथ है। हाय! जिस पवित्र साधु-वेप पर जनता न्योछावर होती है, जिसकी प्रतिष्ठा असीम है, उसी वेपको मैंने कलंकित किया!

आचार्य का यह मनस्ताप देव से अज्ञात न रहा। वह उनका रग ढंग देख कर समझ गया, कि आचार्य का हृदय पश्चात्ताप की अग्नि से कोमल हो रहा है। और वे सुधार के पथ पर अग्रसर हो रहे है। उसने अपना पूर्व शिष्य का रूप वनाया और अपने गुरुदेव के चरणों मे गिर पडा। गुरुजी उसे देखकर मानो सोते से जाग उठे। वोले—"अरे! शिष्य! तुम हो?"

शिष्य वोला—जी हां, अव मैं देव हो गया हूँ।

गुरु—तुम देव हो गये थे, तो क्यों न मुझे पहले ही सूचना दे दी? इतना विलम्व करके क्यो मेरी जन्म-जन्म की पूँजी पर पानी फेर दिया? तुम्हारे विलम्वने मेरा तो सत्यानाश कर दिया।

मै नास्तिक बन गया। पथ-भ्रष्ट हुआ और यह दुदशा हुई।

शिष्य ने विनत भाव से, विलम्ब के लिए क्षमा-प्रार्थना की। आचार्य अषाढ़भूति ने आलोचना-प्रतिक्रमण आदि के द्वारा पूर्ण शुद्धि की, और पूर्व की भांति संयम पूर्वक विचरने लगे। इस प्रकार धर्म से च्युत होने वाले को, पुनः धर्म मे निश्चल बनाना ही स्थितिकरण है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है कि वह इसका पालन करे।

सम्यक्त्व का सातवां अंग है—'वात्सल्य।' जैसे गौ अपने बछड़े पर प्रेम करती है, उसी प्रकार सधर्मी जन पर अकृत्रिम प्रेम होना, वात्सल्य अंग है। जो व्यक्ति, धर्मात्मा है, सधर्मी है, उनके प्रति धर्म-प्रेम प्रकट करना, उनके कार्यों मे सहयोग देना, उन्हें आपत्ति में पड़ा देखकर उनका उद्धार करना, प्रेम पूर्वक उनका स्वागत-सत्कार करना, उन्हे देख कर प्रमोद-भाव व्यक्त करना, आदि वात्सल्य के ही रूप है। अपने घर पर पारिवारिक लोगो का, या संबंधियो का आगमन तो होता ही रहता है। किन्तु स्वधर्मी बंधु का शुभागमन बड़े भाग्य से होता है। ऐसा समझकर हार्दिक उत्साह और प्रेम से उनका स्वागत-सत्कार करना चाहिए यह वात्सल्य सम्यक्त्व का महान् गुण है। जिसमे सधर्मी के प्रति उत्कृष्ट वात्सल्य नही, वह सम्यग्दृष्टि पद का अधिकारी नहीं होता।

अवात्सल्य, धर्म-वृद्धि का घातक है। धर्म की वृद्धि, धर्मात्माओ की वृद्धि पर ही निर्भर है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात धर्मात्माओं के विना धर्म नही रहता। धर्मात्मा पुरुष ही धर्म के आश्रय है। वात्सल्य भाव से धार्मिकता का विकास होता है। यदि आप किसी धर्मात्मा के प्रति हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करेंगे। तो वह आपके स्नेह पूर्ण व्यवहार के कारण धर्म मे, अधिक दृढ

होगा। यदि स्वधर्मी के प्रति उपेक्षा या घृणा का व्यवहार किया जाय, तो वह ऊब जाएगा। और धर्म के प्रति भी उसे अरुचि हो जायगी। धीरे-धीरे वह विधर्मी बन कर हमारा कट्टर विरोधी बन जायगा।

विश्वपुर निवासी दत्त नामक गाथापति, स्वधर्मियों की सहायता करने में, सदैव दत्त चित्त रहता था। वह अपने इस कर्तव्य को इतनी लगन और तन्मयता से पालन करता था कि विपुल धन का व्यय करना पड़े, या महान् विपत्तियों का सामना करना पड़े, तो भी उनकी कुछ भी परवाह न करके, सधर्मी-सहायता के लिए कष्टों की धधकती धूनी में कूद पड़ता था। उसी नगर में उदायन नाम का एक और गाथापति रहता था। एक बार वह उदायन गाथापति पौषध व्रत को धारण किये बैठा था। संयोगवश उसी दिन यह राजकीय घोषणा हुई, कि आज नगर का सब कारबार बंद रखा जाय और समस्त नागरिक उद्यान में एकत्रित होकर आमोद-प्रमोद करें। राजाज्ञा को शिरोधार्य कर सब नगर-निवासी ग्राम से बाहर गये। किन्तु गाथापति उदायन पौषध-व्रत के कारण आमोद-प्रमोद में सम्मिलित न हो सका। यह बात राजा के कानों तक पहुँची। राजा ने उदायन को गिरफ्तार कर अपने पास बुलाया। यह समाचार गाथापति दत्त ने सुना। वह भोजन के थाल पर बैठा ही था कि यह समाचार सुनते ही बिना भोजन किये उठ बैठा। वह तत्काल राजा के समीप जा पहुँचा। और पौषध-व्रत का विस्तृत स्वरूप समझा कर राजा से उदायन को तुरन्त मुक्त कर देने की प्रार्थना की। राजा दुराग्रही न था। उस ने उदायन गाथापति को उसी समय छोड़ दिया। वात्सल्य का यह एक उदाहरण है।

वात्सल्यता का पालन करने के लिए, आत्मा मे त्यागवृत्ति और स्वार्थ-परायणता का अभाव अवश्य होना चाहिए। जिस मे सच्ची धर्मनिष्ठा है, वह अपना सर्वस्व त्याग कर भी अपने सधर्मी के प्रति वात्सल्य प्रगट करेगा। सच्चा वात्सल्य-वासित व्यक्ति अपने सधर्मियों को कठिनाई मे पड़ा देखकर, संतुष्ट नही रह सकता। वह सधर्मी-मात्र को अपने सहोदर भाई से भी अधिक समझता और तदनुसार व्यवहार करता है। ऐसा करने वाला ही आत्म-कल्याण का पात्र बनता है। एक और उदाहरण सुनिये—

हस्तिनापुर मे सनत्कुमार चक्रवर्ती के यहां एक रसोइया था। उस पर चक्रवर्ती एक बार बहुत प्रसन्न हुआ और इच्छानुसार वस्तु मांग लेने की स्वीकृति दी। ऐसा स्वर्ण अवसर पाकर कोई पुद्गलानन्दी होता, तो किसी महामूल्यवान् आभूषणकी माग पेश करता, साम्राज्यका कोई हिस्सा मांगता अथवा अन्य किसी सासारिक सुख-समृद्धि का साधन माँग लेता। पर रसोइया ऐसा न था। वह अन्तर्दृष्टि पुरुष था। उसकी नजरो मे संसार के राग रग तुच्छ थे। सच है, जिसकी दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती है वह संसार के समस्त वैभव को एकत्र पाकर भी उसे ठुकरा सकता है। वह अनुभव करता है, कि सुख आत्मा का गुण है। आत्मा का गुण होने के कारण वह आत्मा को छोडकर वाह्य वस्तुओ मे, कदापि नही पाया जा सकता। जब सुख आत्मा के ही भीतर विद्यमान है, तो सुख की गवेषणा करने वालो को आत्मा की ही गवेषणा करना चाहिए। आत्मा मे ही सुख का असीम सागर लहराता हुआ विद्यमान है। सनत्कुमार चक्रवर्तीका सूपकार इस रहस्य को समझ गया था। उसने किसी स्वार्थसाधक वस्तुकी याचना न की। उसने जो कुछ चाहा, वह तुच्छ-सा प्रतीत होने पर भी बहुमूल्यथा

उसने कहा—नरनाथ! आपके प्रसाद से मुझे किस बात की कमी है? और जीवन में बहुत से पदार्थों की आवश्यकता भी क्या है? बात इच्छा की है। यदि इच्छाओं का दमन न किया, तो आप का यह अखंड एकच्छत्र साम्राज्य भी मनुष्य को संतुष्ट नहीं बना सकता। और यदि इच्छाओं को आधीन कर लिया, मन को मार लिया, तब पेट भर भोजन और तन ढंकने के लिए फटे-पुराने वस्त्रों के अतिरिक्त और चाहिए ही क्या? जब इच्छाएँ कभी पूरी हो ही नहीं सकतीं—एक इच्छा के पूरा होने पर सैकड़ों नई इच्छाएँ राक्षसी की भांति उत्पन्न होकर मनुष्य को परितप्त, असंतुष्ट और क्लिष्ट बना देती हैं, तब उन्हें पूर्ण करने का वृथा प्रयास क्यों किया जाय? इससे तो यही अच्छा है, कि इच्छाओं का समूल उन्मूलन कर दिया जाय। उन्हें आत्म-प्रदेश से निर्वासित कर दिया जाय। सारे संसार को चर्म से आवृत करने का असफल प्रयास करने की अपेक्षा, पैर में जूता पहन लेना ही श्रेष्ठतर है। महाराज! ऐसा सोच कर मैंने अपनी इच्छाओं को फलने-फूलने से रोक लिया है। इससे मैं सदा आनन्द में मग्न रहता हूँ। मुझे कभी कामना और असंतुष्टि की आग में नहीं जलना पड़ता है। जीवित रहने के लिए जिन साधनों की अनिवार्य आवश्यकता है, वे सब आपकी दया से प्राप्त हो ही जाते हैं। फिर भी, महाराज! जब आपने यह अनुग्रह मुझ पर किया है, तो कुछ-न-कुछ मांग लेना ही उचित है। मेरी मांग यही है, कि आपके भोजनालय में भोजन के उपरान्त जो भोज्य-पदार्थ अवशेष रहें उन पर मेरा अधिकार होना चाहिए।

चक्रवर्ती ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—अरे भले आदमी, मेरे अनुग्रह का दुरुपयोग क्यों करता है? कोई अच्छी-सी चीज

मॉग ले। यह क्या तुच्छ मांग की है ?

रसोइया ने अविचल भाव से कहा—महाराज ! मांगना तो मुझे है न ? मेरी जो इच्छा हुई, मांग लिया। आप जैसे बड़े आदमियों के लिये जो मॉग छोटी है, वह मांग मुझ जैसे छोटे आदमियों के लिए बड़ी है।

चक्रवर्ती ने सूपकार को सनकी समझ, उसकी मांग स्वीकार करली। सूपकार बहुत प्रसन्न हुआ। इतना प्रसन्न मानों उसे कोई अचिन्त्य वस्तु अनायास ही प्राप्त हो गई हो। उसने सभी साधु-साध्वियों से सविनय प्रार्थना की, कि महाराज ! प्रासुक और एषणीय आहार-पानी के लिए भोजनालय मे अवश्य कृपा किया कीजिए। इसी प्रकार कुछ श्रावक-श्राविकाओ से भी उसने यह विनति की, कि—भाइयो और बहनो ! आप लोग भोजनालय मे भोजन किया करे और धर्मध्यान मे निश्चिन्त होकर संलग्न रहे। इस प्रकार उस सूपकार ने हितकारी, पथ्यकारी और सुखकारी आहार-पानी के द्वारा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका की सेवा करके अपने वात्सल्यभाव का परिचय दिया। अन्त मे सूपकार आयु समाप्त होने पर तीसरे देवलोक मे सनत्कुमार इन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ।

वास्तव मे ऐसे महापुरुष इस लोक और परलोक मे धन्य होते है, जो अपने स्वार्थ को तिलांजली देकर, अपने सधर्मी भाइयो-बहनो के प्रति प्रबल वात्सल्यता का परिचय देते है। वे परिणाम मे अनन्त सुखों के भागी बनते हैं और संसार के समक्ष एक उच्च आदर्श स्थापित कर जाते हैं। अतः सम्यग्दृष्टि पुरुष को सधर्मी-वात्सल्य का पालन अवश्य करना चाहिए।

सम्यक्त्व का आठवा अंग या भूषण है—'प्रभावना।' जिन-

शासन की महिमा लोक मे प्रकाशित करना प्रभावना है। धर्म और धर्मात्मा के होने वाले उपहास को दूर करना, उनका अपमान न होने देना, जिन कारणो से लोक मे धर्म के प्रति घृणा या उपेक्षा उत्पन्न होती हो, उन कारणो को दूर करना, धर्म की पवित्रता पर लगने वाले कलंक को हटाना, स्वधर्मी की रक्षा कर के धर्म का महत्त्व प्रकट करना आदि प्रभावना है। धर्म की वृद्धि, धर्म की महत्ता का प्रकाश, धर्म की पवित्रता का परिचय, प्रभावना पर ही निर्भर है। इस प्रभावना अंग का पालन करने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह तीर्थंकर का जन्मकल्याणकोत्सव, निर्वाणोत्सव आदि को खूब प्रीति और उत्साह से मनावे, पर्युषण आदि पर्वो की आन्तरिक अनुराग से आराधना करे। यही नहीं, बल्कि प्रत्येक प्रभावना प्रेमी अपने भीतर ऐसी योग्यता उत्पन्न करे, कि विधर्मियो के द्वारा किये जाने वाले धार्मिक आक्षेपों को, वह युक्ति, हेतु आगम, आदि के द्वारा खंडित करदे।

प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष को यह समझ लेना चाहिये, कि वह संघ से कथञ्चित् भिन्न होते हुए भी, कथञ्चित अभिन्न है। क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों का समूह ही संघ कहलाता है। यदि सब व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र हों, तो संघ नामक वस्तु कोई अस्तित्व न रह जायगा। अनेक समान धर्म वाले व्यक्ति ही मिल कर, संघ कहलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति संघ रूपी शरीर का एक अवयव है। जिस प्रकार एक अंग पेट में विकार होने से सारे शरीर को विकार होता है, उसी प्रकार संघ के एक अंग, अर्थात व्यक्ति में, विकार होने से सारे संघ का ही विकार हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के आचरण की मर्यादा पर ही, संघ के आचरण की मर्यादा

स्थापित होती है। एक व्यक्ति यदि दुराचार करता है, तो न केवल वही व्यक्ति दुराचारी है, वरन् संघ का अंग दुराचारी है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के सदाचार से संघ की प्रतिष्ठा बढ़ती और दुराचार से प्रतिष्ठा की क्षति होती है। ऐसा विचार कर, प्रत्येक व्यक्ति को, अपने आचरण का निर्माण करना चाहिए। धर्म की पहचान, धर्मानुयायियों के द्वारा प्रायः की जाती है। इस लिए हमारे धर्म की श्रेष्ठता, हमारे व्यक्तिगत सदाचार पर भी अवलंबित है। यदि हम अपने धर्म का आदर बढ़ाना चाहते हैं, उसकी महिमा को लोक में व्याप्त करना चाहते हैं तो, हमें अपना चारित्र आदर्श बनाना चाहिए। इसीसे धर्म की प्रभावना होगी।

इसी प्रकार जो धनाढ्य हैं, उन्हें अनाथालय, विद्यालय, ब्रह्मचर्याश्रम, महिलाशाला, श्राविकाश्रम, कन्याशाला, औषधालय आदि-आदि सर्वजनोपयोगी संस्थाएँ स्थापन कर अपनी उदारता और त्यागशीलता के द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। जो विद्वान हैं, जिन्होंने विभिन्न शास्त्रों का आलोडन किया है, उन्हें तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा, अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करके, धर्म की प्रभावना करना चाहिए। जो वाग्मी हैं; जो अपने धारा प्रवाह वक्तृत्व द्वारा जनता पर प्रभाव डालने में समर्थ हैं उन्हें अपनी वाचनिक-शक्ति के द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। जिनकी शारीरिक सम्पत्ति उत्तम है, उन्हें दीन-अबला आदि की रक्षा करके प्रभावना करना चाहिए। जिनके पास किसी प्रकार की विशेष सम्पत्ति नहीं है, उन्हें अपने सद्-व्यवहार द्वारा ही प्रभावना करना चाहिए। क्योंकि सत्प्रवृत्ति से शुद्धता प्रकट होती है और शुद्धता से धर्म का महत्त्व बढ़ता है। अपने भाव, भाषा और व्यवहार को सदैव शुद्ध रखने

से तथा हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार, मांस-मदिरा सेवन, ईर्षा, ममत्व आदि के त्याग से धर्म की प्रभावना होती है।

धर्म की महिमा का विस्तार करने में सोत्साह न होना, अपने तन-मन-धन संबंधी शक्तियों को छिपाना, धर्माचरण में अनुरक्त न रहना, धर्म को ढोंग समझना, धर्म मार्ग में चलते समय विघ्न वाधा के आने पर तुरंत धर्म से किनारा काट लेना, इत्यादि कार्यों से अप्रभावना होती है और अप्रभावना सम्यक्त्व का कलंक है।

विजयपुर की महारानी ने, अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता लोक में प्रकट करके धर्म की महान् प्रभावना की थी। उसका संक्षिप्त वर्णन इस भांति है—

विजयपुर के राज्य की बागडोर, विभूतिविजय नामक राजा के हाथ में थी। उसकी पटरानी का शुभ नाम गुणसुन्दरी था। पति और पत्नी-दोनों के बीच धर्म के स्वरूप के संबध में परस्पर वाद-विवाद प्राय: हुआ ही करता था। रानी वीतराग-धर्म की अनुगामिनी थी और राजा किसी मिथ्यामार्ग का अनुयायी था। धीरे-धीरे एक दिन वादविवाद की उग्रता ने ऐसा रूप धारण कर लिया, कि दोनों में कटुता और डाह उत्पन्न हो गई। राजा मौके बेमौके महारानी के धर्म पर मिथ्या आक्षेप करके उसकी निन्दा करने लगा। वह कभी-कभी कहता—'चल देख लिया तेरे धर्म को! सामायिक का बहाना करके कुछ-कुछ गुनगुनाती रहती है। अवसर आने दे तब तेरे धर्म की सचाई भी परख लूंगा।'

एक दिन राजा ने अपनी क्रूर प्रकृति के वश होकर एक पिटारे में काला विषधर भुजग बंद करके, रानी के हाथ में सौंप

दिया। उसने कहा—'रानी, लो यह हार गले मे पहन लो।' रानी बड़ी चतुर थी। वह पहले से ही सतर्क भी थी। राजा का षड्-यंत्र वह तत्काल समझ गई। उसने उसी समय भावपूर्वक नमो-कार मंत्र का जाप किया और धर्म के प्रबल बल का भरोसा करके पिटारा खोला। सर्प महामंत्र के जाप के प्रभाव से सुन्दर मुक्ताहार बन गया। रानी ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ वह हार गले में धारण किया। राजा ने यह अलौकिक घटना देखी, तो वह चकित रह गया। अब उसे रानी के धर्म की सत्यता का विश्वास हुआ। उसने सोचा—जब रानी के थोड़े-से प्रशस्त पाठ से भयंकर भुजंग भी भूषण बन सकता है, तब विशेष पाठ से आत्मा का लोकोत्तर कल्याण क्यों न हो जायगा? ऐसा विचार कर, राजा ने वीतरागधर्म पर पूर्ण श्रद्धा प्रगट की। यह संवाद जब नगर मे पहुँचा, तब नागरिक जन भी पहले विस्मित होकर फिर वास्तविक धर्म की वाह! वाह! करने लगे। इस प्रकार धर्म की खूब प्रभावना हुई। इस प्रभावना के कारण राजा के साथ-ही-साथ हजारों नगर-निवासियों ने जिनमार्ग अंगीकार किया।

प्रभावना से प्रभावित हो, अनेक प्राणी वास्तविक धर्म को प्राप्त कर, मुक्ति पथ के पथिक बन जाते है। अतएव तन, मन, धन, ज्ञान, विज्ञान, आचार-विचार आदि अपनी शक्ति के द्वारा धर्म की महिमा बढ़ाना प्रत्येक सम्यक्त्व-धारी का प्रधान लक्षण है। इस प्रभावना के पथ मे कोई अनुदार, विघ्नसंतोषी जन बाधाएँ खड़ी करे, तो भी निरन्तर अग्रसर होते जाना, वीरों का कर्त्तव्य है। विघ्न-बाधाओं से भयभीत होकर अपने उद्दिष्ट पथ से विचलित हो जाने वाला कायर नर, सफलता की अंतिम सीढ़ी पर

कदापि आरूढ़ नहीं हो सकता। विघ्न-बाधाएँ मनुष्य की लक्ष्य-निष्ठा की कसौटी हैं और जो उस कसौटी पर कसने के पश्चात् खरा उतरता है वह अपने पुरुषार्थ में पूर्ण सफलता प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व के आठ अंगों या आभूषणों का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। जो भव्य जीव अपने सम्यक्त्व को परिपूर्ण एवं विशद बनाना चाहते हैं, उन्हें दृढ़ता के साथ इनका परिपालन करना चाहिए।

धर्म की आराधना, आत्मा को अनादिकालीन दुःख-परम्परा से, मुक्त करने का अनुपम और अद्वितीय साधन है। धर्म की आराधना, मानव-भव में ही पूर्ण रूप से हो सकती है; और मानव-भव की प्राप्ति अत्यन्त कठिनाई से होती है। जिन्हें पूर्वार्जित पुण्य-परिपाक से मानव-भव मिल गया है, उन्हें अपने को अतिशय धन्य समझना चाहिए। और उसे सार्थक करके आगामी पथ प्रशस्त बना लेना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ मानव-भव में भी यदि आत्मश्रेय के लिए प्रयास न किया, तो चिरकाल तक घोर यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी और तीव्र पश्चाताप करना पड़ेगा।

मुनिराज के इस प्रभावशाली उपदेश को श्रवण कर राजा सुवर्णबाहु का मन। संसार से विमुख हो गया। उन्होंने अपना प्राप्त साम्राज्य क्षण-भर में त्याग कर, संयम के महान् साम्राज्य में विचरना स्वीकार किया। वे दीक्षित होने के पश्चात् ज्ञानाभ्यास में तन्मय हो गये। अल्प काल में ही उन्होंने ज्ञान का यथेष्ट उपार्जन कर लिया। अब वे सुवर्णबाहु मुनिराज अपने गुरु की आज्ञा ले, छोटे-बडे ग्रामों में पहुँच कर धर्मोपदेश द्वारा जनता को आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट करने लगे और धर्म का तथ्य एवं पथ्य मार्ग, बताने लगे। उन्हें अपनी संयम-यात्रा का निर्वाह

करते हुए अनेक अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग आये पर मुनिराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ समभाव पूर्वक सब को सहन किया। कहीं उन्हे आहार आवश्यकता से कम मिलता तो कही बिल्कुल ही न मिलता था। शीतकाल मे वे शीत से युद्ध करते, उष्णकाल मे ताप को पराजित करते, पर अपने निर्दिष्ट मार्ग में आगे ही बढ़ते जाते। डांस-मच्छर जब उन्हें काटने लगते तो वे सोचते मेरे पूर्व-बद्ध असाता वेदनीय की निर्जरा हो रही है। इसी प्रकार पैदल भ्रमण भूमिशयन, आदि के कष्ट उन्हें कष्ट ही न जान पड़ते थे। कोई स्तुति करे या गाली दे, दोनों पर उनका समभाव था। कोई ताड़ना करे या वन्दना-नमस्कार करे, दोनों पर राग द्वेष न था। ध्यान मे बैठते तो ऐसे निश्चल हो जाते कि हिरन आदि जीव पत्थर समझकर उनसे अपनी खाज खुजाते थे। उनका समस्त जगत मानों आतमा मे ही बन गया बाह्य संसार का जैसे उनके लिए कोई अस्तित्व ही न रह गया हो। सदा उत्कृष्ट अध्यावसायों मे विचरते, सदा आत्मा मे मग्न रहते, सदा चिदानन्द से चिपटे रहते।

इस प्रकार उत्कृष्ट संयम का पालन करते हुए महामुनि सुवर्णबाहु ने निम्न लिखित बीस विधियों—बोलों—से तीर्थकर गोत्र का उपार्जन किया, जो पुण्य की चरमसीमा है, अदृष्ट का सर्वोत्कृष्ट फल है और जिसकी बड़े बड़े योगी सदा कामना करते है।

अरहंतसिद्धपवयण गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया यसिं, अभिक्खणणाणोवओगे य॥१२॥

दंसणविणए आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥

अपुव्वणाणग्गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥१४॥

—निर्ग्रन्थ-प्रवचन

रागादि दोषों से रहित, घन घाती कर्मों के संहारक अरिहंतों की, सम्पूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त करने वाले सिद्धों की, अहिंसा मय सिद्धान्तों तथा महाव्रतों के पालक महापुरुषों, स्थविरों बहु-सूत्रियो तथा तपस्वियो की सेवा-भक्ति करने से, उनके गुणों का मनन और प्रसार करने से एव नवीन-नवीन ज्ञान का सम्पादन करने से तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है।

इसी प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करने से, नम्रता के भावों को हृदयंगम करने से तथा प्रतिदिन सायंकाल और प्रात' काल प्रतिक्रमण करने एवं शीलव्रत की आराधना से तीर्थंकर-पद प्राप्त होने का सुअवसर हस्तगत होता है।

आर्त्त और रौद्र ध्यान को अपने हृदय में न फटकने देने से, अनशन व्रत करने से, इच्छा का निरोध करते हुए अल्पाहार करने से और मिष्टान्न का परित्याग कर देने से मनुष्य को तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

सुपात्रदान देने से, अपने आपको सेवा-भाव में संलग्न करने से तथा अचिन्तित रहने से तीर्थंकर पद उपार्जन होता है।

सूत्र-सिद्धान्तों के प्रति, पूर्ण आदर-भाव रखने से, उनका ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से तथा जिन-मार्ग की प्रभावना व

उन्नति के साधनों की खोज करके उनको कार्य रूप में परिणत करने से मनुष्य तीर्थंकर-पद प्राप्त करता है।

तीर्थंकर-पद-प्राप्ति के उपर्युक्त वीसों साधनों को मुनि सुवर्णबाहु ने अपने जीवन में उतार लिया था।

मुनिराज सुवर्णबाहु घोर तपश्चरण और श्रेष्ठ संयम-पालन करते हुए क्षीरगिरि के समीप जंगल में एक बार पहुँच गये। उसी जंगल में आगे कमठ होने वाला कुरंगक भील का जीव गुफा के किसी दर्रे मे, नरक से निकल कर सिंह बन कर निवास करता था। सिंह की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही उसे पूर्व भव का (मरुभूति-कमठ भव का) वैर स्मरण हो आया। वह क्रोध से उन्मत्त होकर मुनिराज की ओर लपका। मुनिराज ध्यान मे मग्न थे. जैसे मरुभूमि के मार्ग में गमन करने वाला प्यास से व्याकुल पथिक स्वच्छ और शीतल जल पाकर बड़ी प्रसन्नता से उसे पान करता है उसी प्रकार वह सिंह मुनिवर के शरीर मे पजे मार-मार कर अतिशय आनंदित होता हुआ उनका रुधिर-पान करने लगा। और जैसे एक बुभुक्षित दरिद्र ककड़ी को बड़े चाव से खाता है उसी प्रकार मॉस के लोथ निकाल-निकाल कर खाने लगा। जैसे मदोन्मत्त हाथी इक्षु-दण्ड को तडाक-तड़ाक तोड़ता है उसी प्रकार सिंह, मुनिराज की अस्थियां तड़-तड़ाकर तोड़ने लगा।

मुनिराज की इस असह्य यातना को पढ़-सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पर स्वयं मुनिराज ने उसे बड़ी शान्ति के साथ सहन किया। उन्होंने अपना मन आत्मा मे ऐसा उलझाया कि वह इस भीषण उपसर्ग की ओर आकृष्ट न हो पाया। उन्होंने अपूर्व और अनुपम समता का प्रदर्शन किया। प्राणान्तक व्यथा

पहुँचाने वाले सिंह पर उन्हे अणुमात्र भी क्रोध या द्वेष उत्पन्न न हुआ। धन्य है यह वीतरागता, धन्य है यह सहिष्णुता, धन्य है यह समता और धन्य है जैनमुनि का लोकोत्तर आचार! वास्तव मे प्रतीकार का पूर्ण सामर्थ्य होने पर भी प्रतीकार न करना, प्रतीकार का विचार भी न करना, और मन मे इस प्रकार विपत्ति का पहाड़ पटकने वाले के प्रति विद्वेष या रोष का किञ्चिन्मात्र भी उदय न होने देना, वीरता की पराकष्ठा है, धीरता की चरम-सीमा है, मानवीय आदर्श का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है, विजय-प्राप्ति का अमोघ मंत्र है, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का सरल मार्ग है, सयम का अत्युच्च स्वरूप है, संसार के भ्रमग्रस्त प्राणियो के लिए प्रकाश-स्तम्भ है, आत्मा के प्रशस्ततम श्रेय का सूचक है; और समस्त विजयो मे अन्तिम और श्रेष्ठ विजय है। यह वीरता, यह धीरता और यह विजय उन्हीं महामहिम पुरुष-पुंगवों को प्राप्त होती है जिन्हे दुःख-सुख का, आत्मा-अनात्मा का, और दुनिया की खिलवाड का रहस्य अवगत हो गया है, जो जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट पथ पर चलते है और जो आत्मा के सहज स्वरूप की निर्मल झाकी पा लेते हैं। जैन मार्ग का ही यह महत्त्व है कि वहाँ शत्रु को शत्रु नहीं समझा जाता, उस पर मित्र का-सा साम्यभाव रखा जाता है।

नौवाँ और दसवाँ जन्म

मुनिराज शरीर का त्याग करके दसवें प्राणत देवलोक मे महाप्रभ नामक विमान मे उत्पन्न हुए। सिंह मर कर अपने क्रूर हिंस्र कर्म के प्रभाव से चौथे नरक मे उत्पन्न हुआ। यह कर्मो का

प्रभाव है। जो जैसे कर्मों का उपार्जन करता है उसे तदनुसार ही फल भोगने पड़ते हैं।

सिंह का यह जीव जन्म-जन्मान्तरों मे जो घोर कर्म करता आ रहा था उसके प्रभाव से वह नरक और तिर्यंच भवो मे अनेक वार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार जन्म मरण की असह्य यातनाएँ सहते-सहते उसने किसी नगर के सन्निवेश मे एक ब्राह्मण के घर मे जन्म लिया। वह कुछ ही वड़ा हो पाया था कि उसके माता पिता दोनो का देहान्त हो गया। उसका नाम कमठ पड़ा। वह अत्यन्त दयनीय दशा मे दिन निर्गमन करता हुआ भीख मॉग मांग कर उदर पूर्ति करने लगा। एक वार वह कही जा रहा था कि मार्ग में उसे कई सम्पन्न व्यक्ति रथ में बैठ कर जाते हुए दिखाई दिये। उनका वेप वड़ा उज्ज्वल था। सुन्दर और वारीक वस्त्र पहने थे, आभूपणों से शरीर सजा हुआ था। आगे-पीछे नौकरो की कतार चल रही थी। उनके इस ऐश्वर्य को देखकर कमठ के कठिन हृदय में भी एक प्रकार का निर्वेद-सा उत्पन्न हुआ। उसने अपने साथ उनकी तुलना की—'कहाँ मै हूं पराये टुकड़ो पर निर्वाह करके भी भूखा मरने वाला और कहा ये लोग है जो उत्तमोत्तम सांसारिक भोग भोग रहे है। इनके वस्त्र कैसे बढ़िया, वारीक और बहुमूल्य है और मुझे फटे-पुराने चीथड़े भी नही मिलते। यह किस प्रकार आनन्दमय जीवन यापन कर रहे है और एक मै हू जिसका कोई स्वजन नही, घर-द्वार नही, सिवाय कष्टो और मुसीबतो के जिसके पास कुछ भी नही है। इस जघन्य जीवन को कब तक निबाहा जायगा? जब संसार मे मेरा कोई नहीं है तब क्यों न बन मे जाकर साधु बन जाऊँ? हमेशा पेट के लिये जो अपमान और तिरस्कार सहना

पड़ता है उससे पिंड छूटेगा और संभव है आगे के लिए भी कुछ सामान इकट्ठा हो जाय।' इस प्रकार विचार कर अपने जन्म गत संस्कारो के कारण बन मे जाकर उसने किसी तापस से तापसी दीक्षा ग्रहण करली। वह उसी मे आत्मा का कल्याण समझता हुआ पंचाग्नि तप तपने लगा।

भारतवर्ष मे उस समय भी गंगानदी के किनारे वाराणसी-जिसे आजकल बनारस कहते है, नगरी थी। उस समय वाराणसी नगरी की शोभा अद्भुत थी, उसकी छटा अनुपम थी। प्रकृति ने मानो उसे बड़े चाव से, बड़े हावभाव से सजाया—सिंगारा था। सुन्दर सरोवरो मे खिले हुए कमल, नगरी के सौंदर्य मे चार चाद लगा रहे थे। अत्यन्त उन्नत और विशाल प्रासाद सुमेरु से स्पर्धा कर रहे थे। नगरी के निवासी न्यायनिष्ठ, सदाचारी और धार्मिक थे। धन-धान्य से परिपूर्ण और वैभव से मंडित वह नगरी जम्बूद्वीप का आभूषण थी।

इस नगरी मे संसार प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश के प्रतापी और पराक्रमी राजा अश्वसेन का शासन था। राजा अश्वसेन बड़े ही दानशूर थे। उनकी दानशूरता चारो ओर प्रसिद्ध हो चुकी थी और इस कारण सर्वत्र उनके यशश्चन्द्र की रोचिर रश्मिया व्याप्त थीं। राजा राजनीति मे पारगत थे। उसकी वीरता की कथा सुन कर बड़े-बड़े शूरवीर पीपल के पत्ते की तरह कांपते थे। राजा अश्वसेन दयालु होने पर भी अन्यायियों, अत्याचारियो और आततायियो को कठोर दंड देने मे कभी हिचकते न थे। वे राजा पद की मर्यादा को भली भांति जानते और निवाहते थे।

महाराज अश्वसेन की पट्टरानी का नाम 'वामादेवी था। वामादेवी आदर्श महिला के समस्त गुणो से युक्त, पतिव्रता,

भद्रशीला, कोमल हृदया, धर्म परायणा और वत्सलता की मूर्ति थी। दोनों एक-दूसरे के अनुकूल, सहायक और सखा थे। दोनों मे परस्पर प्रगाढ़ और विशुद्ध प्रेम था। वामादेवी अपनी विद्वत्ता और कुशलता से महाराज की राज-काज में भी यथायोग्य सहायता करती थी। दोनों एक-दूसरे को पाकर सन्तुष्ट, सुखी और सम्पूर्ण थे।

जगत् में जो वैचित्र्य राजा-रंक, सम्पन्न-विपन्न आदि मे देखा जाता है, वह निष्कारण नही है। प्रत्येक कार्य, कारण से ही उत्पन्न होता है, यह सर्व विदित सिद्धान्त है। अतएव इस विचित्रता का भी कारण अवश्य है और पूर्वोपार्जित अदृष्ट के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही हो सकता। कई लोग कहते हैं कि सम्पत्ति विपत्ति आदि परिस्थिति उत्पन्न करती है। किन्तु ऐसी परिस्थिति या संयोग क्यों उत्पन्न होते है ? सब के सामने एक सी परिस्थिति क्यों नही होती ? इन प्रश्नो का समाधान उन के पास नही है। इनका ठीक-ठीक समाधान तो कर्म-सिद्धान्त ही कर सकता है। जिसने पूर्व जन्म मे पुण्य का उपार्जन किया है वह सम्पन्न कुल मे और अनुकूल संयोगों में उत्पन्न होता है और जिसने अशुभ कृत्य करके मलिन अदृष्ट का उपार्जन किया है वह विपन्न परिस्थिति और प्रतिकूल संयोगों मे उत्पन्न होता है। प्रस्तुत चरित को अवधान से अध्ययन करने पर यह सत्य एक दम स्पष्ट हो जाता है। मरुभूति के जीव ने अनेक जन्म धारण करके अपनी पुण्य रूपी सम्पत्ति की खूब वृद्धि की है। वह उत्तरोत्तर भवो मे निरन्तर उसे बढ़ाने मे उद्योगशील रहा है। उसके इसी शुभ अदृष्ट के कारण वह इक्ष्वाकु जैसे उत्तम कुल में महाराज अश्वसेन के यहा अवतरित हो तो उचित ही है।

मरुभूति के जीव की बीस सागरोपम की आयु शनैः शनैः समाप्त हो गई। वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में दसवें देवलोक से च्युत हो वामादेवी की कुक्षि में अवतरित हुआ।

जब महारानी वामादेवी के गर्भ में भूतपूर्व देव का आगमन हुआ तब उन्होंने क्रमशः चौदह शुभ स्वप्न देखे—पहले आकाश मार्ग से आता हुआ एक सुन्दर सफेद हाथी उनके मुख में प्रविष्ट हुआ। इसी प्रकार एक हृष्ट पुष्ट अत्यन्त दर्शनीय बैल और नव हत्था केसरी सिंह उन्हें दिखाई दिया। चौथे स्वप्न में उन्होंने लक्ष्मी को देखा, फिर पुष्प-माला का युगल, चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, सरोवर, क्षीर सागर, देव-देवी से युक्त विमान, रत्नों की राशि और अन्त में चौदहवें स्वप्न में अग्नि की ज्वाला देखी। इन स्वप्नों को देखकर रानी के हृदय में स्वतः आन्तरिक उल्लास फैल गया। वह आह्लादित होती हुई उठी। स्वप्न देखने के पश्चात् उन्होंने निद्रा नहीं ली। वह अपने शयनागार से उठीं और अपने प्राणनाथ महाराजा अश्वसेन के शयनागार में पहुँची। वहां पहुँच कर धीमे और मधुर स्वर से महाराज को जगाया, उनका यथोचित सत्कार किया। महाराज ने प्रेम पूर्वक बैठने के लिए आसन दिया।

महाराज अश्वसेन और वामादेवी के दाम्पत्य जीवन का विवरण गृहस्थ जीवन में अपना एक विशिष्ट आदर्श रखता है। पति-पत्नि में किस प्रकार का मधुर संबंध होना चाहिए? यह बात उनके चरित से विदित होती है। इसके अतिरिक्त उल्लिखित विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि राजा और रानी की शय्या ही पृथक् पृथक् न थी किन्तु उनके शयनागार भी पृथक्-पृथक

थे। आज कल कुछ लोग सहशय्या का पक्ष लेकर कहते हैं कि इससे प्रेम में वृद्धि होती है। किन्तु वास्तव में यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है। प्रेम और वासना मे बड़ा भेद है। एक गृहस्थ के लिये अमृत हो सकता है, तो दूसरा विष है। वासना मे जो मलिनता है, जो गंदगी है, जो स्वार्थ-लिप्सा है वह प्रेम में नही है। प्रेम मे स्वच्छता है, उत्सर्ग है और स्वार्थ लिप्सा का अभाव है। प्रेम एक ऐसा आकर्षक और मधुर तन्तु है जो क्या समीपवर्ती और क्या दूरवर्ती सभी मनुष्यों का संयोजक होता है। प्रेम वृद्धि के लिए सहशय्या अनावश्यक है। यही नही वरन् सहशय्या से अनेक हानियां होती है। उदाहरणार्थः—

(१) मनुष्य के अध्यवसायो की निर्मलता या मलिनता प्रायः निमित्त कारणो के आधीन है। जैसे निमित्त मिल जाते है वैसे ही अध्यवसाय भी तत्काल हो जाते है। सहशय्या परिणामो मे मलिनता और वासना बढ़ाने वाला एक प्रबल निमित्त कारण है इससे ब्रह्मचर्य की आंशिक मर्यादा भी स्थिर नही रह सकती। अत्यधिक सन्निकटता परिणामों मे उत्तेजना उत्पन्न करती है। अतः ब्रह्मचर्य का भंग पुन. पुन होने से शारीरिक दुर्बलता बढ़ती है। शारीरिक दुर्बलता की वृद्धि सैकड़ों बीमारियों को आमन्त्रित करती है। राजयक्ष्मा जैसे महान् भयंकर और दुस्साध्य रोग वीर्य-क्षय-जन्य दुर्बलता से ही प्रायः पैदा होते है। अतः सहशय्या न होनी चाहिए।

(२) सोते समय मनुष्य बेभान हो जाता है किन्तु श्वासोच्छ्वास की क्रिया जैसी की तैसी ही नहीं बल्कि कुछ अधिक तीव्र हो जाती है। शरीर के भीतर से नासिका के द्वारा निकलने वाली वायु विषाक्त होती है। यदि दो मनुष्य पास-पास सोते हों

तो एक की दूषित वायु को दूसरा ग्रहण करेगा और दूषित वायु जब अंदर जायगी तो उससे अनेक रोग उत्पन्न होंगे। वह शरीर मे जहर का काम करेगी। इसलिए भी सहशय्या हानिकारक है।

(३) सहशय्या से पारस्परिक आकर्षण मे न्यूनता आ जाती है। अतएव धर्म-शास्त्र और आयुर्वेद-शास्त्र की दृष्टि के साथ-साथ काम-शास्त्र की दृष्टि से भी सहशय्या दूषित वस्तु है।

इससे यह स्पष्ट है कि पति और पत्नी को एक ही शय्या पर शयन न करना चाहिए। यही नहीं बल्कि बालको को भी साथ-एक ही बिछौने पर सुलाना हानिकारक है। वामादेवी एवं राजा अश्वसेन की भांति पृथक् शयनागार यदि संभव न हों तो भी एक शय्या तो कदापि न होनी चाहिए। अनेक प्रान्तो मे इस समय जो सहशय्या प्रणाली प्रचलित है उसके विषैले प्रभाव नवीन-नवीन रोगो के रूप मे और दुर्बलता के रूप मे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहे है। फिर भी आश्चर्य है कि लोग इस प्रकार की हानिजनक चेष्टाओ से बाज नहीं आते। विवेकवान् पुरुषों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए। अस्तु।

महारानी वामादेवी जब आसन पर विराजमान हो गई तो महाराज ने पूछा—'महारानी जी, कहो आज इतने जल्दी आने का क्या कारण है? तुम्हारा खिला मुख कोई आनन्द-सूचना दे रहा है।'

महारानी—'प्राणनाथ! संवाद तो आनन्दप्रद ही जान पड़ता है। आगे आप स्वयं प्रमाण हैं। आज रात्रि मे मैंने चौदह स्वप्न देखे है।

यह कह कर महारानी ने अपने देखे हुए स्वप्नों का वर्णन किया। स्वप्न सुन कर राजा के हर्ष का पार न रहा। उसने बड़ी

प्रसन्नता से कहा—वल्लभे ! सब स्वप्न अत्यन्त शुभ हैं, कल्याण-कारी हैं और महान् अभीष्ट फल देने वाले है। इन स्वप्नों के प्रभाव से अपने राज्य की सीमा का विस्तार होगा। कोष मे धनादि की खूब वृद्धि होगी। प्रजा मे सुख-शान्ति का विस्तार होगा। महामारी का दौर-दौरा अब से दूर हो जायगा। तुम्हारे एक सर्वश्रेष्ठ पुत्ररत्न उत्पन्न होगा। वह अपने कुल मे ध्वजा के समान वंश की गरिमा और महिमाकी वृद्धि करेगा। वह संसार का आधारभूत और धर्म का अवतार होगा। तुमने पहले स्वप्न मे हाथी देखा है। वह पुत्र भी हाथी के समान अजेय होगा। कोई उसका सामना न कर सकेगा वह पुत्र बैल के समान धौरेय होगा—वह अपनी नीति और धर्म की धुरा को कभी न डालेगा। वह सिंह के समान पराक्रमी होगा। लक्ष्मी के समान सर्वत्र आदर का पात्र होगा। पुष्प-माला के समान उसका यशः सौरभ दिगदिगन्त मे व्याप्त होगा। वह चन्द्रमा के समान सौम्य प्रकृति वाला और सूर्य के समान तेजस्वी होगा। ध्वजा देखने से वह अहिंसा धर्म की ध्वजा फहरावेगा। वह कुम्भ के समान गुणों से परिपूर्ण होगा। सरोवर के समान पवित्र होगा। वह क्षीर सागर के समान गंभीर और उज्ज्वल होगा। देव-देवी युक्त विमान को देखने का फल यह है कि सहस्रों देवी-देव उसकी सेवा करेंगे। रत्नो की राशि के समान उसका शरीर का वर्ण कान्तिमय और सुन्दर होगा। अग्नि की ज्वाला देखने से पुत्र अपनी आत्मा को पवित्र-निर्मल करने वाला होगा। इस प्रकार एक सुन्दर, सर्वगुण सम्पन्न और सर्व श्रेष्ठ पुत्र-रत्न की प्राप्ति होने की सूचना इन शुभ स्वप्नो से होती है।

महाराज अश्वसेन के मुख से अपने मंगलमय स्वप्नों का

फल सुन कर महारानी वामादेवी के हृदय-सागर मे हर्ष की हिलोरे उठने लगी। वह महाराज की आज्ञा लेकर अपने शयनागार मे आई और अवशेष रात्रि जागते-जागते ही व्यतीत की।

प्रात.काल होने पर नित्य कर्म से निवृत्त हो, महाराज अश्वसेन ने स्वप्न के फल के ज्ञाता विद्वानों को आमंत्रित किया। स्वप्न-पाठक राज-सभा मे आकर यथास्थान बैठे। सभा मे महारानी को बिठलाने के लिये एक पर्दा डाल दिया गया। महारानी आकर वहाँ बैठ गई। इसके अनन्तर महाराज ने उन विद्वानों से स्वप्न का फल पूछा। विद्वानो ने भी वह फल बतलाया जो महाराज रात्रि में ही महारानी को बतला चुके थे। महाराज ने विद्वानों का खूब आदर-सन्मान किया। उन्हे यथोचित भेट देकर विदा किया।

महारानी वामादेवी अपने अन्तःपुर मे लौट आई। वे अत्यन्त सावधानी के साथ गर्भ की प्रतिपालना करने लगी। आहार-विहार मे अत्यन्त संयत रहने लगी। न अधिक चरपरा खातीं, न अधिक खट्टा खातीं, न अधिक मीठा खातीं न अधिक कषायला खाती। मानसिक चिन्ता या उद्वेग से गर्भ को हानि पहुँचती है अत इन्हे अपने पास भी न फटकने देती थी। सदैव धर्ममय विचार-आचार से अपना समय बिताती थी। इस प्रकार योग्यता के साथ गर्भ का पालन करते हुए नौ महीने और साढ़े सात दिवस व्यतीत हो गये। पौष कृष्णा दशमी विशाखा नक्षत्र मे बालक का जन्म हुआ।

जन्म

बालक का शरीर अत्यन्त सुन्दर और सुडौल था। शरीर का वर्ण पन्ने के समान नीला था परन्तु ओजपूर्ण होने के कारण अतीव आकर्षक और मनोहर था। हाथ-पैर आदि की रेखाएँ सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार महापुरुष के योग्य शुभ थी। वक्षस्थल मे श्रीवत्स साथिया था। बालक का जन्म होते ही देवों के आसन कम्पित हो गये। उपयोग लगाने से ज्ञात हुआ कि बनारस मे त्रिजगत्-नाथ तीर्थंकर देव का जन्म हुआ है। स्वर्ग मे इससे आनन्द ही आनन्द छा गया। आकाश मे देवताओं ने दुंदुभि बजायी। तीनों लोक मे हर्ष व्याप्त हो गया। दिशाएँ और आकाश निर्मल होगया। शीतल, मद, सुगन्ध बयार बहने लगी। महाराज अश्वसेन ने पुत्र जन्म के उपलक्ष मे कैदियो को मुक्त कर दिया। घर-घर मंगलाचार होने लगा। यही नही बालक नरक के नारकी जीवों को भी घोर यातनाओं से क्षणभर के लिए विश्रान्ति मिल गई। राजा-प्रजा सभी के हृदय प्रफुल्लित हो गये। इस उत्सव मे देवराज इन्द्र ने और अन्य देवों ने खूब अनुराग के साथ भाग लिया। ऐसा अपूर्व अवसर पाकर भला देवियां भी क्यों पीछे रहतीं ? वे भी आई और उन्होंने भी अपने हौसले पूरे किये।

धीरे-धीरे बारहवां दिन आ गया। अशुचि कर्म से निवृत्त होने के पश्चात् बालक का नामकरण किया गया। नाम रखा गया—पार्श्व। क्योंकि जब बालक गर्भ मे था तब एक सर्प वामा देवी के चारो ओर फिरता रहता था।

बालक पार्श्वकुमार का पालन-पोषण करने के लिए अत्यन्त

कुशल और विदुषी धायें नियुक्त की गई थीं। धायें बाल-संगोपन कार्य में अनुभवी और बाल-मनोविज्ञान में प्रवीण थीं। बालक की इन्द्रियों एवं मन का विकास किस प्रकार सहज ही किया जा सकता है, यह उन्हें भली भांति ज्ञात था। माता-पिता-संरक्षक या उनके समीप रहने वाले मनुष्य के व्यवहार और भाषण का बालक के मन पर तीव्र प्रभाव पड़ता है। अत. बालक के सामने खूब संयम पूर्वक वर्तना-बोलना चाहिए। यह धायों को सम्यक प्रकार विदित था। वे इसके अनुसार ही आचरण करती थीं

धायों ने बालक को खेलने के लिये तरह-तरह के खिलौने रखे थे। वे खिलौने आजकल के रबर के खिलौनो, जैसे हानिकारक नहीं थे। रबर के खिलौनों में एक प्रकार का विष होता है उसका बालक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक की प्राकृतिक शक्तियों को विकसित करने के लिए खिलौना एक महत्वपूर्ण वस्तु है। आजकल की अनेक शिक्षा पद्धतियों के अनुसार खिलौनों द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। धायों को यह भली भांति विदित था कि किस खिलौने से बालक को अनायास ही—बिना उस पर किसी प्रकार का दबाव डाले, क्या सुन्दर शिक्षा दी जा सकती है। अतएव वे उन खिलौनों का बुद्धिमत्ता के साथ प्रयोग करके बालक की शक्तियो के विकास के साथ-साथ उसका पर्याप्त मनोरंजन भी करती थीं। खिलौनों के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा वास्तव में वाचनिक शिक्षा से कहीं अधिक प्रभावजनक और अधिक स्पष्ट तथा स्थायी होती है।

आजकल की अनेक अज्ञान माताएँ बालकों को 'हौवा आदि का कल्पित भय बता कर उसे रोने से चुप करने का प्रयत्न करती है। उन्हें यह पता नहीं कि वे अपने क्षणिक आराम के लिए

बालक को सदा के लिये कायर, डरपोक और भीरु बना कर उस का जीवन नष्ट कर रही है। इस प्रकार से भयभीत हुआ बालक भविष्य मे साहसी, शूरवीर और निर्भय नहीं बन सकता। यही कारण है कि आज कल आर्य प्रजा मे भी वह वीरता वह निर्भयता और वह साहस नहीं है, जो पहले था। कुमार पार्श्वनाथ की धायें इस रहस्य को जानती थीं और वे भूल कर के भी कभी ऐसा अनुचित व्यवहार नही करती थी।

रोते हुए बालक को चुप करने का एक अमोघ साधन दूध पिलाना मान लिया गया है। बालक चाहे जिस कारण से रो रहा हो माता समय-असमय का विचार न करके जल्दी से उसके मुँह मे स्तन दे देती है। यह भी एक प्रकार का अज्ञान है। बालक को एक अनिश्चित मात्रा मे दूध कभी नहीं पिलाना चाहिए। समय-असमय का भी विचार करना चाहिए। ऐसा न करने से बालक को अजीर्ण हो जाता है और उसका स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाता है। बालक सदा भूख से ही नही रोता। उसके रोने के अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं। उनको खोजना माता या धाय का कर्त्तव्य है, इस तथ्य को भी पार्श्व की धात्रियां अच्छी तरह समझती थीं। धायें बालक को सदैव साफ-सुथरा रखती थीं। मैला-कुचैला रखने से रोग बढते है।

इस प्रकार चतुर धायों के द्वारा पालन होने के कारण बालक पार्श्व सदा प्रसन्न रहते थे, स्वस्थ रहते थे और उनकी प्राकृतिक शक्तियों का अच्छा विकास हो गया था। धीरे-धीरे बाल्यावस्था समाप्त हो गई और बालक पार्श्व ने अब कुमार अवस्था मे प्रवेश किया।

अपूर्व विजय

उस समय वाराणसी के पश्चिम मे कुशस्थल नाम का एक विशाल और समृद्ध नगर था। वहा के राजा का नाम प्रसेनजित था। राजा प्रसेनजित की एक सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम प्रभावती था। प्रसेनजित ने प्रभावती की सम्मति के अनुसार पार्श्वकुमार से उसका विवाह सम्बन्ध करने का निश्चय किया। यह समाचार कलिंग के राजा ने सुना। प्रभावती के सौन्दर्य पर अनुरक्त होकर उसने अपनी विशाल सेना के साथ कुशस्थल पर चढ़ाई कर दी। कुशस्थल के चारों ओर उसने घेरा डाल दिया और अपने शूरवीर योद्धाओं को स्थान-स्थान पर नियुक्त कर दिया। कलिंगराज ने प्रसेनजित को सूचित कर दिया कि या तो कुमारी प्रभावती को मेरे सुपुर्द करो या रणस्थल मे आकर सामना करो। प्रसेनजित इस अचिन्त्य आक्रमण का सामना करने की तैयारी न कर सके। विवश हो प्रसेनजित ने अपने मंत्री के पुत्र को एक गुप्त मार्ग से बनारस भेजा। उसके जाने की कलिंगराज के गुप्तचरों को जरा भी खबर न होने पाई। अमात्य पुत्र बनारस जा पहुँचा और कलिंगराज के सहसा आक्रमण का विस्तृत वर्णन सुनाया। महाराज अश्वसेन ने समस्त वृतान्त सुना तो उनकी भृकुटी चढ गई। वीर रस की लालिमा उनके नेत्रों मे चमक उठी। बोले—'कलिंगराज की यह धृष्टता। उसके होश बहुत शीघ्र ठिकाने लाता हूँ। मंत्री-पुत्र! आप निश्चिन्त रहे। कुशस्थल का शीघ्र ही उद्धार होगा।

इस प्रकार उसे सान्त्वना देकर महाराज अश्वसेन ने तत्काल सेनापति को बुला कर सेना तैयार करने का आदेश दिया।

सेनापति के बिगुल बजाते ही दम-भर मे सेना सज्जित हो गई। कुमार पार्श्व को जब पता चला तो वे महाराज के पास आये और बोले—'पिताजी ! आज क्या बात है ? किसके दुर्भाग्य का उदय हुआ है जिसके लिए आपने सेना तैयार कराई है ?' महाराज अश्वसेन ने कहा—'वत्स ! कुशस्थल पर कलिंग के राजा ने अन्यायपूर्ण आक्रमण किया है। कुशस्थल नरेश अपनी सहायता चाहते हैं। न्याय पक्ष की सहायता करना क्षत्रिय का धर्म है। ऐसा न किया जायगा तो संसार मे घोर अव्यवस्था और अन्याय का साम्राज्य हो जायगा। अतएव कलिंगराज को न्याय का पाठ पढाने के लिए यह तैयारी की गई है। और शीघ्र ही मै कुशस्थल की ओर प्रयाण करता हूँ।'

कुमार ने कहा—'तात ! यदि आप मुझे इस योग्य समझते हो, तो अब की बार मुझे ही संग्राम मे जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। मै आप जैसे असाधारण योद्धा का पुत्र हूँ और न्याय का बल अपने पक्ष मे है इसलिए शत्रु का पराजित होना निश्चित समझिये। यद्यपि मेरी उम्र अधिक नहीं है तो भी क्या हुआ। बाल सूर्य. सघन अन्धकार का विनाश कर देता है और सिंह-शावक शृगालों का संहार कर डालता है। मै भी कलिंगराज के होश ठिकाने ला दूँगा।

महाराज अश्वसेन कुमार की वीरता को समझते थे। कुमार की वीरोचित वाणी सुनकर उन्हे हार्दिक सन्तोष और प्रमोद हुआ। प्रसन्नता के साथ उन्होने युद्ध मे जाने की स्वीकृति दे दी। पार्श्वकुमार सेना सहित कुशस्थल की तरफ रवाना हुए। मार्ग मे इन्द्र के द्वारा भेजा हुआ रथ लेकर एक सारथि आया। बोला—'कुमार ! आपकी सेवा मे महाराज इन्द्र ने यह रथ भेंट स्वरूप

भेजा है। अनुग्रह करके इसे स्वीकार कीजिए।' कुमार ने इन्द्र की भेंट स्वीकार की और उसी विशाल एवं द्रुतगामी रथ पर सवार होकर चल दिये। रणभेरी से आकाश को शब्दमय बनाती हुई सेना रणस्थल कुशस्थल जा पहुंची। उचित स्थान देखकर बनारस की सेना पडाव डाल कर ठहर गई।

भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीनकाल से एक प्रथा चली आती है। आक्रमण करने से पहले प्रत्येक राजा अपने विरोधी के पास दूत भेजकर उससे अपनी मांगे स्वीकार कराने का सन्देश भेजता है। यह प्रथा धीरे-धीरे अनार्य राजाओं तक फैलकर प्राय सर्व-व्यापक भी हो गई है। इस प्रथा के अन्तरंग मे जैन धर्म का अहिंसा विषयक एक नियम विद्यमान है। श्रावक निरपराध त्रस प्राणी की हिंसा का त्याग करता है। वह केवल 'सापराधी' का अपवाद रखता है। यदि दूत द्वारा अपनी मांग स्वीकार करने की सूचना न दी जाय तो कदाचित निरपराध की हिंसा हो सकती है। सम्भव है विरोधी वह मांग स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया हो फिर भी उसका अभिप्राय जाने बिना आक्रमण कर दिया जाय तो ऐसे युद्ध मे होने वाली हिंसा निरपराध की हिंसा कहलाएगी और वह श्रावक धर्म से विरुद्ध है। इसी कारण दूत को भेजकर अपने विरोधी का अभिप्राय जान लेने की परिपाटी चली है। तदनुसार पार्श्वकुमार ने भी चतुर्मुख नामक दूत कलिंगराज के पास भेजकर अपना अभिप्राय कह भेजा। कुमार ने कहलाया—"कलिंगराज! संसार मे राजाओ की व्यवस्था न्याय की रक्षा के लिए की गई है। राजा न्याय का प्रतिनिधि है। वह स्वय यदि अन्याय पर उतारू हो जायगा तो न्याय का रक्षक कौन रहेगा? मेढ ही खेत को उजाड़ने लगे तो खेत की रक्षा

असम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्यायी राजा प्रजा के समक्ष न्याय की महत्ता किस प्रकार साबित कर सकता है ? आप कुमारी प्रभावती के साथ बलात् विवाह करने पर उतारू हुए हैं। पर कुमारी आपके साथ विवाह नहीं करना चाहती। ऐसी दशा मे विवाह-सम्बन्ध अगर हो जाय तो भी क्या लाभ होगा ? विवाह, वर-वधु का आजीवन का एक पवित्र सम्बन्ध है। वह बलात् होने से विवाहित जीवन शान्ति और सुख के साथ व्यतीत नहीं किया जा सकता। इससे घोर अशान्ति और संताप ही मिलेगा। एक बात और है। यह आपका व्यक्तिगत विषय है और वैयक्तिक विषय में राज्य की शक्ति का उपयोग करना सर्वथा अनुचित है। आप अपने अन्याय पूर्ण स्वार्थ को साधने के लिए न जाने कितने योद्धाओं के प्राणों की बलि चढ़ाएँगे। इससे राज्य को कोई भी लाभ न होगा। राजा को प्रजा के हितमें अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए प्रजा का बलिदान कर देना उसका कर्त्तव्य नही है। इसलिए कलिंगराज! आपने जो अशुभ निश्चय किया है उसे शीघ्र बदल दीजिए। न्याय-अन्याय का विचार कीजिए। इतने पर भी आप न समझे तो युद्ध के मैदान मे आ जाइए। वही अन्याय का निर्णय दिया जायगा। स्मरण रहे आपके पक्ष मे अन्याय की निर्बलता है और मेरे पक्ष मे न्याय की सबलता है।

चतुर्मुख दूत ने कुमार का सन्देश कलिंगराज के सामने अक्षरशः सुना दिया। इस सन्देश को सुनकर उसके कुछ योद्धा भड़क उठे और दूत का अपमान करने को तैयार हो गए। पर कलिंगराज का मन्त्री अत्यन्त अनुभवी और चतुर था। उसने

कलिंग नरेश से कहा—"अन्नदाता ! कुमार के सन्देश पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसमे नीति का तत्त्व कूट-कूट कर भरा है। सन्देश का अक्षर-अक्षर राजा के कर्त्तव्य की महत्ता प्रदर्शित कर रहा है। इसके अतिरिक्त कुमार स्वयं अत्यन्त बली हैं। इन्द्र उनका सेवक है। उनके साथ विग्रह करके सफलता की आशा नहीं की जा सकती अतएव सन्धि करने का यह स्वर्ण अवसर है।"

मंत्री की बात राजा के गले उतर गई। उसने दूत से कहा—"दूत ! जाकर कुमार से कह दो कि आपका संदेश पहुँच गया है मैं स्वयं उनके पास आकर वार्त्तालाप करना चाहता हूँ।"

कलिंगराज अपने मंत्री के साथ कुमार की सेवा मे पहुँचे। कुमार ने उनका यथायोग्य आदर-सत्कार किया। बैठने को योग्य आसन दिया। कलिंगराज ने कहा—'कुमार ! आपके संदेश ने मेरे जीवन को एक नई दिशा मे अभिमुख कर दिया है। उसका मेरे अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मेरी आज आंखे खुल गई। आपका संदेश यद्यपि संक्षिप्त था पर उसमे राजनीति के मूल भूत सिद्धान्तों का सत्व खींच कर आपने भर दिया है। आपके आदेशानुसार मैंने अपना संकल्प बदल दिया है। मैं शीघ्र ही सेना समेत कलिंग की ओर प्रयाण करता हूं।

कुमार—'आपके शुभ निश्चय के लिए धन्यवाद है। कलिंगराज ! आपने मेरा निवेदन स्वीकार करके सहस्रो वीरों के प्राणों की रक्षा करली। अन्यथा न जाने कितनी सुहागिनों के सुहाग छिन जाते, न जाने कितनी विधवाओं के एकलौते लाल लुट जाते और संसार मे अन्याय को प्रोत्साहन मिलता।'

कलिंगराज—'मगर कुशस्थल पर चढाई करने से मेरी

अभूतपूर्व विजय हुई है। कुमार! इससे जो अद्भुत लाभ मुझे हुआ है वह अब तक किसी चढ़ाई में नहीं हुआ।'

कुमार—'कौन-सी विजय और क्या लाभ? मैं आपका आशय नहीं समझा। कृपया स्पष्ट कीजिए।'

कलिंगराज—इस चढ़ाई से मुझे दो लाभ हुए हैं। कुमार! प्रथम तो यह कि मैंने अनेक बाहरी शत्रुओं पर विजय पाई थी पर हृदय में डट कर बैठे हुए दुर्भाव रूप शत्रु का मैं बाल भी बांका न कर सका था। आज इस युद्ध-भूमि में मैंने उसे पराजित कर दिया है। यह मेरी अभूतपूर्व विजय हुई है।

कुमार—'दूसरा लाभ क्या है?'

कलिंगराज—'दूसरा अद्भुत लाभ है आपका दर्शन होना। न यह चढ़ाई करता न आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता। इस प्रकार दोहरा लाभ लेकर मैं जा रहा हूँ।'

कुमार—यह आपकी सज्जनता है। मैं तो न्यायमार्ग का साधारण पथिक हूँ। आपके पक्ष में न्याय होता तो निश्चित समझिए मैं आपके साथ होता और महाराज प्रसेनजित का विरोध करने में तनिक भी संकोच न करता। आपने भयंकर नर-संहार टाल दिया, इस श्रेय के भागी आप ही हैं।

कलिंगराज—आपका सौजन्य अनुपम है। आपने मुझे जो सद्बुद्धि दी उसी से यह नर संहार टल गया है। अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।

कुमार—आपका मार्ग शुभ हो। पधारिये।

कलिंगराज—मगर मैं थोड़ा-सा विषाद भी साथ लेकर जा रहा हूं कुमार!

कुमार—वह क्यो कलिंगराज? मैंने आपके साथ कोई प्रत्यु-

चित व्यवहार किया है ? क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे ?

कलिंगराज—जी हां, बताने के लिए ही तो कह रहा हूँ। आपने राजकुमारी प्रभावती के साथ होने वाले अपने शुभ-विवाह का मुझे आमन्त्रण नहीं दिया। क्या आप मुझे शामिल न कीजिएगा ?

कुमार—(मुस्करा कर) 'मूल नास्ति कुत: शाखा ?' जिसका मूल ही नहीं उसकी शाखा कहां से आएगी ? ऐसा अवसर आने की मुझे तो कोई संभावना दिखाई नहीं देती है। आप कहें तो निर्ग्रन्थ-दीक्षा-उत्सव का आमन्त्रण आपको पेशगी दे सकता हूँ।

कलिंगराज—नहीं कुमार, ऐसा न होने पाएगा। मैं आपके पाणिग्रहण-महोत्सव में ही सम्मिलित होऊँगा।

इस प्रकार हास्य-विनोदमय वार्त्तालाप के पश्चात् कलिंगराज कुमार के पास से विदा हुआ। कुशस्थल पर युद्ध की जो भीषण घटनाएं मँडरा रही थीं वे पार्श्वकुमार के प्रभाव रूपी पवन से क्षण भर में तितर-बितर हो गईं। कुशस्थल अब कुशल-मंगल बन गया। सबकी जान में जान आई। सभी एक मुँह से कुमार की प्रशंसा करने लगे। जनता के समूह के समूह कुमार का दर्शन पाने को उमड़ पड़े। सभी के हृदय उल्लास से उछल रहे थे। सभी उमंगों से भरे हुए थे। राजा प्रसेनजित के आनन्द का तो पार ही न था।

विवाह

थोड़ी देर बाद महाराज प्रसेनजित अपनी कन्या प्रभावती को साथ लेकर कुमार की सेवा में उपस्थित हुए। यथोचित

शिष्टाचार के अनन्तर प्रसेनजित बोले—कुमार ! कुशस्थल अभी-अभी विपदाओ से घिरा हुआ था। भयंकर रण-चण्डी का चीत्कार मचने ही वाला था। न जाने कितनी सुहागिनो के सुहाग युद्ध-ज्वाला में भस्म हो जाते। कितनी विधवाएँ अपने पुत्रों के सहारे से वंचित हो जाती। नगर का यह सौन्दर्य भीषण रूप धारण करता। जहा अभी नर-नारी आनन्द से घूम रहे है वहां गिद्ध और शृगाल चक्कर काटते होते। पर धन्य है आपकी कुशलता और धन्य है आपकी शूरवीरता को, कि आपका शुभा-गमन होते ही परिस्थिति सहसा पलट गई। हम राज-परिवार के लोग और समस्त प्रजा किसी प्रकार आपके इस प्रसाद से मुक्त नही हो सकते। अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए हमारे पास कोई साधन नही है। सबसे अधिक मूल्यवान् और मेरे लिए सबसे अधिक प्रिय यह कन्या-रत्न ही मेरे पास है। इसे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। इसके लिए आपसे अधिक सुयोग्य वर संसार में दूसरा नही मिल सकता।

पार्श्वकुमार ने कहा—महाराज ! मै अन्याय का प्रतीकार करने के उद्देश्य से तथा न्याय-नीति की रक्षा करने के लिए ही यहा आया हूँ। मेरे आने का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नही है। आप आग्रह करके व्यर्थ मुझे लज्जित न करें। मै बिना माता-पिता की आज्ञा के इस सम्बन्ध मे कुछ कह या कर नहीं सकता। क्षमा चाहता हूँ—आपकी आज्ञा मै स्वीकार न कर सका।

प्रसेनजित ने कुमार की दृढ़ता देख अधिक आग्रह करना उचित न समझा। उन्होने पार्श्वकुमार के विनय-भाव की मन ही मन प्रशंसा की। सोचा—धन्य है वे माता-पिता, जिन्होने

ऐसा सौम्य, पराक्रमी, सुन्दर, गुणवान और आज्ञाकारी पुत्र पाया है। अभी कुमार विवाह की स्वीकृति नहीं देते तो न सही, उनके माता-पिता की अनुमति से यह सम्बन्ध करना ठीक होगा।

कुछ समय तक प्रसेनजित का आतिथ्य ग्रहण कर पार्श्व-कुमार अपनी सेना के साथ बनारस की ओर चल दिये। जब वे अपनी अपूर्व विजय-पताका फहराते हुए बनारस के समीप पहुँचे और महाराज अश्वसेन को समाचार मिला तो नगरी को खूब सजाया गया। नागरिकों ने अत्यन्त उत्साह के साथ अपने-अपने घर-द्वार सिंगारे। जगह-जगह तोरण, पताका और स्वागत द्वारों के कारण सारा शहर ऐसा सुन्दर प्रतीत होता था मानों अलकापुरी हो। प्रतिष्ठित नागरिक और महाराज अश्वसेन बड़े स्नेह और स्वागत-समारोह के साथ कुमार को नगरी में लाये।

कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती पार्श्वकुमार को हृदय से वरण कर चुकी थी। उसने निश्चय कर लिया कि इस जीवन में यदि मेरा पाणिग्रहण होगा तो पार्श्वकुमार के साथ ही होगा। दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ तो मैं आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करूंगी। वह अन्तःकरण से अपना तन-मन कुमार को समर्पित कर चुकी थी। जब पार्श्व ने विवाह करना स्वीकार न किया और कुशस्थल से वे वापिस लौट आये तो राजकुमारी बहुत निराश हुई। उसका हृदय वेदना के प्रवल आघातों से जर्जरित सा होगया। राजकीय वैभव और सखी-सहेलियों का हास्य-विनोद उसके हृदय को सान्त्वना प्रदान न कर सका। वह निरन्तर उदास रहती, न किसी से विशेष वार्त्तालाप करती और न भरपेट भोजन ही करती थी। पार्श्वकुमार का तेजस्वी और सुन्दर

चेहरा उसकी आंखों के आगे नाचता रहता था। वह विरह-वेदना से व्याकुल हो बड़ी कठिनाई से दिन काटती ी। मानसिक विचारों का प्रभाव शरीर पर पड़े बिना नही रहता। अतएव उसके मानसिक खद का शरीर पर भी प्रभाव पड़ा। शरीर कृश और चेहरा खिन्न हो गया। महाराज प्रसेनजित ने कुमारी की यह अवस्था देख बनारस जाने का निश्चय किया और शुभ मुहूर्त से प्रभावती को साथ लेकर विदा हो गये।

वे यथा समय बनारस पहुँचे। महाराज अश्वसेन औ' पार्श्वकुमार ने उनका प्रेम के साथ हार्दिक स्वागत किया। उन्हें विशेष अतिथियों के लिए निय। एक विशाल एवं सुन्दर प्रासाद मे ठहराया गया। उनकी सार-संभाल के लिए स्वयं नरेश अश्वसेन वहा पहुँचे। शिष्टाचार होने के बाद अश्वसेन ने कहा–'महाराज! आप किसी प्रकार का कष्ट न उठाइएगा। अपना घर समझ कर निःसंकोच होकर आज्ञा दीजिएगा कि आपको किस-किस वस्तु की आवश्यकता है? प्रसेनजित बोले—'महाराज! आपने मेरे प्रति जो सौहार्द व्यक्त किया है उससे आपके और मेरे बीच परायापन नहीं रह गया है। सभी आवश्यक वस्तुएँ यहा मौजूद है। फिर भी यदि कोई आवश्यकता हुई तो अवश्य कहूँगा। हा, एक बात कहनी है और मेरे आगमन का मुख्य ध्येय भी वही है। वह यह कि मेरी राजकन्या प्रभावती पार्श्व कुमार को अन्त करण से वरण कर चुकी है। वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी के साथ विवाह करना स्वीकार नहीं कर सकती। मैंने कुशस्थल में कुमार से इस संबंध की चर्चा की थी। वे अत्यन्त विनीत है। आपकी और महारानी वामादेवी की आज्ञा लिए विना कुछ उत्तर देने मे उन्होंने असमर्थता बताई। मगर

राजकुमारी दिनों-दिन सूख कर लकड़ी होती जा रही है। अतएव मै उसके साथ आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। कृपाकर इस सबंध को स्वीकार कीजिए।'

महाराज अश्वसेन ने कहा—'महाराज! आप जैसे सज्जन और सहृदय समधी को पाकर मैं अपने को धन्य समझूँगा। कुमारी प्रभावती जैसी सुशीला और सुन्दरी पुत्र-वधू का मिलना भी कठिन ही है। मै कुमार को समझाने मे कुछ उठा न रक्खूं गा। फिर भी विवाह-संबध जीवन का सौदा है। उसका दम्पति पर स्थायी और अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव वह दोनो की स्वीकृति से ही होना कल्याणकारी है। ऐसा न होने से दोनो का जीवन नितान्त अशान्त, असतुष्ट और दु:खमय हो जाता है। मुझे विश्वास है–कुमारी प्रभावती सर्वगुण संपन्न है और वे कुमार के मन के प्रतिकूल न होंगी। मगर कठिनाई तो यह है कि पार्श्व सांसारिक आमोद-प्रमोदों से विरक्त-सा रहता है। उसकी वृत्ति मे विषय-भोगो के प्रति स्वाभाविक उदासीनता रहती है। इसलिए सभव है वह विवाह करना स्वीकार न करे। फिर भी मै अपनी शक्ति की परीक्षा करूँगा, उसे समझाऊँगा और विवाह के लिए राजी करने की चेष्टा करूँगा।'

इस प्रकार वार्तालाप होने के वाद दोनो राजा कुमार के समीप पहुँचे। कुमार ने अपने पिता और अतिथि का सविनय स्वागत किया। यथास्थान दोनों को बिठलाया और आप स्वयं सामने खड़े रहे। प्रसेनजित के आग्रह पर अन्त मे कुमार ने भी योग्य आसन ग्रहण किया। तत्पश्चात् इस प्रकार वार्तालाप प्रारंभ हुआ —

अश्वसेन—'कुमार! तुमने राजकुमारी प्रभावती को देखा है।

महाराज प्रसेनजित की और कुमारी की यह इच्छा है, कि तुम उसका पाणिग्रहण करो।'

पार्श्व—पिताजी! मै महाराज और राजकुमारी का आभारी हू। पर मै विवाह करना नही चाहता। इस धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूँ।

अश्वसेन—क्यों कुमार? संसार मे रहते हुए सांसारिक व्यवहार तो चलाने ही पड़ेगे। यह तो सदा से होता आया है और होता रहेगा। फिर यह निराला मार्ग क्यो पकड़ना चाहते हो।

पार्श्व—पिताजी, मै जिस मार्ग पर चलना चाहता हूँ वह एकदम नया नहीं है। अनेक महापुरुष बाल-ब्रह्मचारी रह कर आत्म-साधना मे निरत हुए है और होगे भी। बात यह है, कि विषयभोगों की लिप्सा एक प्रकार की अग्नि है। उसमे जितना ईंधन डाला जाय उतनी ही वह प्रज्वलित होती है। इस आत्मा ने अनादिकाल से लेकर अब तक अगणित विवाह किये है, विपुल भोग भोगे है, पर इस तृष्णा का कही अन्त दिखाई देता है? आत्मा इनसे कभी पूर्ण संतुष्ट नहीं होता। तब तृष्णा का पेट भरने का प्रयास ही वृथा है। शान्ति और सुख प्राप्त करने का केवल एक साधन है—तृष्णा का अंत कर देना, भोगोपभोगो का सर्वथा परित्याग कर देना। अग्नि मे ईंधन न डालने से वह आप ही बुझ जाती है और विषयभोगो का परित्याग कर देने से तृष्णा का अन्त हो जाता है। मनुष्य भव इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन है। इसे वृथा बर्बाद कर देना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। अतः आप क्षमा करे यही मेरी प्रार्थना है।

अश्वसेन—कुमार ! अनेक तीर्थंकर हो चुके हैं। उन्होंने विवाह भी किया है और स्व-पर कल्याण भी किया है। इसी प्रकार तुम भी कर सकते हो। मेरा कहना मानो। विवाह कर लो। अन्त में आत्मकल्याण करना और संसार का उद्धार करना। विवाह न करने से तो विवाहित लोग तुम्हारे आचरण का शायद अनुकरण भी न कर सकेंगे। वे सोचेंगे—'पार्श्व तो अविवाहित थे इसलिए उन्होंने संसार त्याग दिया। हम लोग विवाहित हैं कैसे संसार का त्याग करें ? यदि तुम विवाह करके कुछ समय पश्चात् संसार त्याग करोगे तो तुम्हारा चरित सर्वग्राह्य हो सकेगा। अत मेरा आग्रह स्वीकार करो।

महाराज अश्वसेन के आग्रह और उनकी अंतिम युक्ति का पार्श्वकुमार के हृदय पर कुछ प्रभाव पड़ा। वे चुप रहे-कुछ बोले नहीं। महाराज अश्वसेन ने 'मौनं सम्मति-लक्षणम्' के न्याय के अनुसार पार्श्व की स्वीकृति समझ कर विवाहोत्सव की धूम-धाम आरंभ कर दी। उधर प्रसेनजित भी कुशस्थल जाकर विवाह की तैयारी में लग गये। दोनों ओर से खूब साज सजाये गये। दिल खोल कर खर्च किया गया। दीन-हीन जनों को मुँह-मांगा दान दिया गया। राजप्रासाद में और प्रजा के घर-घर मंगल-गान होने लगे। यथा समय बरात रवाना हुई। कुमार एक सर्व लक्षण सम्पन्न दिग्गज के समान सफेद हाथी पर आरूढ़ हुए। उनका स्वाभाविक सौन्दर्य दूल्हा के वेष में और ज्यादा खिल उठा। उस समय ऐसा मालूम होता था मानो तमाम कामदेवों का सौन्दर्य इकट्ठा होकर पार्श्वकुमार में आ गया है। उनकी छवि अतिशय मनोहर थी। जो उनकी ओर आँख उठाकर देखता वही उस अनूठी शोभा को देख कर

चकित रह जाता था। देवों के सौन्दर्य को लज्जित कर देने वाला पार्श्वकुमार का सौन्दर्य उस समय देखते ही बनता था। पार्श्व कुमार जब बारात के साथ राजमहल से विदा हुए तो उनकी जय-विजय की ध्वनि की गई। स्थान-स्थान पर नगर-निवासी नर नारियों ने पुलकित हृदय से कुमार का स्वागत किया और पुष्प वर्षा की। पार्श्वकुमार सब के अभिवादन आदि का यथोचित उत्तर देते हुए धीरे-धीरे नगर से बाहर निकले।

अन्त मे बारात कुशस्थल जा पहुँची। वहाँ राजा प्रसेनजित की ओर से तथा नागरिकों की ओर से बारात का अपूर्व स्वागत-सत्कार किया गया। दोनों पक्ष वाले एक-दूसरे से छाती से छाती लगाकर मिले। उस समय का भव्य-दिव्य दृश्य वर्णन नही किया जा सकता। यथायोग्य शिष्टाचार के पश्चात् बारात जनवासे में ठहराई गई। ज्योतिष शास्त्र के बड़े-बड़े पंडितों द्वारा निर्णीत शुभ मुहूर्त मे सप्तपदी-क्रिया हुई—फेरे पड़े। राजा प्रसेनजित ने इस परम मंगलमय अवसर पर दिल खोलकर दहेज दिया। जब पहला फेरा पड़ा तो बहुत-सा सुवर्ण दिया, दूसरे मे आभूषण दिये, तीसरे मे भांति-भाति के बर्तन-बासन दिये, चौथे मे बढ़िया बढ़िया मुलायम और बारीक वस्त्र दिये। इस प्रकार एक-एक फेरे मे खूब दहेज देकर अपनी चिरकालीन लालसा पूरी की। विवाह कार्य सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात बारात सकुशल कुशस्थल से लौट आई। अब कुमार पार्श्वनाथ, प्रभावती के साथ आनन्द-पूर्वक रहने लगे। यद्यपि उनकी मनोवृत्ति विषयों से स्वभावतः विमुख थी—वे उनमे कभी गृद्ध नहीं होते थे और जल-कमल की भांति निर्लिप्त रहते थे। तथापि प्रभावती को सदा संतुष्ट रखते थे।

तापस-प्रतिबोध

कुमार एक बार महल के छज्जे पर बैठे हुए बनारस के बाजार की बाँकी छवि निहार रहे थे। उसी समय एक ओर से मनुष्यों का एक समूह हाथो मे पत्र-पुष्प-फल आदि लिए हुए बडी उमंग के साथ शहर के बाहर जा रहा था। उसे देखकर कुमार ने अपने सेवक से उसके विषय मे पूछताछ की। सेवक ने बताया—'स्वामी! आज नगर मे एक बड़े ऊँचे दर्जे के कमठ नामक तापस पधारे है। वे बड़े तपस्वी हैं। सदा पंचाग्नि तप तपते है। उन्ही की सेवा-पूजा के लिए यह लोग जा रहे है।'

कुमार भी तापस की तपस्या देखने चल दिये। वहां जाकर उन्होने जो देखा उससे बडी निराशा हुई। उन्होंने देखा—कमठ धूनी धधकाये बैठा है। गाजे और सुलफे का दौर-दौरा है। दम पर दम लगाये जा रहे है। भक्त लोग आते है, उसे गांजा आदि भेट करते है और गाजे का गुल भक्ति के चिन्ह स्वरूप लेकर अपने को कृतार्थ समझते है। तापस की लम्बी-लम्बी जटाएँ उसके सिर को चारों ओर से ढके हुए है और नशे के कारण उसकी लाल-लाल आखे बड़ी डरावनी सी मालूम होती है। कुमार ने अपने अवधिज्ञान से एक बात और जानी। वह यह कि तापस की धूनी मे जो मोटा-सा लक्कड जल रहा है उसमे एक सर्प-सर्पिणी का युगल जलता हुआ तडफड़ा रहा है। यह जानकर कुमार के हृदय मे तीव्र विषाद हुआ। उन्होंने तापस से कहा 'आप बड़ा अनर्थ कर रहे है धर्म के बदले घोर अधर्म का आचरण कर रहे है। जनता को कुमार्ग की ओर ले जा रहे है। आप स्वय दुर्गति मे जाने की तैयारी कर रहे है और दूसरों को भी अपना साथी बना रहे है।'

तापस—कुमार, मैंने सुना था कि बनारस के राजकुमार बड़े धर्मात्मा है, बड़े न्यायपरायण हैं। जान पड़ता है मेरा सुनना मिथ्या था। आपने यहाँ आते ही बिना मुझसे कुछ पूछे-ताछे, बिना समझे-बूझे सहसा फैसला कर दिया। फैसला करने से पूर्व अभियोगी को अपना वक्तव्य देने का भी अवसर नही दिया। क्या यही आपकी न्याय-निष्ठता है ? इसी प्रकार आप प्रजा का न्याय करेंगे ? आखिर बताइए तो कि मै क्यों अधर्म आचरण कर रहा हूँ ? कैसे अनथ कर रहा हू ? किस प्रकार दूसरों को दुर्गति में लेजा रहा हूँ ? मै तापस हूँ तपस्या करना मेरा धर्म है। परम्परा से हमारे सम्प्रदाय में जो आचार-व्यवहार होता आ रहा है, मैं बड़ी तत्परता से उसका अनुष्ठान कर रहा हूँ।

कुमार—मै चाहे नीतिपरायण होऊँ चाहे अन्यायी होऊँ पर आपके विषय में मैंने रंचमात्र भी अन्याय नही किया। यह ठीक है, कि आपसे उत्तर मांगे बिना ही मैंने निर्णय कर डाला है, परन्तु मेरा निर्णय असंदिग्ध है, उसमे कुछ भी भूल नही है। आप जो आचरण कर रहे है, वह धर्मयुक्त है इसका आपके पास एक ही प्रमाण है। और वह यह कि परम्परा से वही आचार होता आता है। पर महाराज ! परम्परा से तो सभी कुछ चला आता है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार भी तो मानवसमाज मे आज से नहीं, कल से नही, किसी खास समय से नहीं, बल्कि परम्परा से चला आ रहा है। क्या वह भी धर्म आचार कहलायगा ?

तापस—मगर मेरे आचार मे आप क्या अधार्मिकता देख रहे है ?

कुमार—आप हिंसा का घोर अनुष्ठान कर रहे है। हिंसा

पाप है और अहिंसा ही धर्म है। जहां अहिंसा का अभाव है वहां धर्म नहीं रहता। हिंसा इस लोक और परलोक दोनों से विरुद्ध है। अहिंसा का पूर्ण अनुष्ठान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। जैसे कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता, रक्त से रक्त नहीं धुलता और जैसे शराब पीने से शराब का नशा दूर नहीं हो सकता उसी प्रकार हिंसामय अनुष्ठानों से पाप कर्म का नाश नहीं हो सकता। फिर भी जो हिंसा का आचरण करके आत्म-श्रेय चाहते हैं वे आग से आग बुझाने का निष्फल प्रयास करते हैं, रात्रि में सूर्य-दर्शन करना चाहते हैं और सर्प के मुख से अमृत लेना चाहते हैं। जो अहिंसा का त्याग करके धर्मोपार्जन करने की चेष्टा करते हैं वे शरीर में से हृदय निकाल कर चिरजीवी बनना चाहते हैं। आप अहिंसा का त्याग करके कदापि आत्म-कल्याण नहीं कर सकते, यह अज्ञान तप आपको दुर्गति का पात्र बनाने वाला है।

तापस—राजकुमार, तुम्हारी उच्छृङ्खलता सीमा पार कर रही है। राजसी वैभव का ठस्सा हम तपस्वियों के आगे नहीं चलता। तुम मुझे वृथा कोसते हो, बदनाम करते हो और उपदेश देने का साहस कर रहे हो। अभी तुम धर्म के विषय में कुछ भी नहीं समझते। नहीं, तो बतलाओ कैसे मैं हिंसा-परायण हूँ और कैसे मेरा तप-अज्ञान-तप है? जरा सँभल कर बात करना।

कुमार—आप क्रुद्ध न हों। शान्ति पूर्वक समझें। आपने यह जो मोटा-सा लक्कड़ इस धूनी में लगाया है उसमें नाग-नागिनी का जोड़ा जल रहा है। क्या यह भी हिंसा का अनुष्ठान नहीं है?

तापस—झूठ, बिलकुल झूठ। राजकुमार के मुंह से ऐसी निराधार बातें निकलना लज्जाजनक है।

कुमार ने अपने सेवक को धूनी मे से लक्कड़ निकालने का आदेश दिया। उसने लक्कड़ निकाला। उसे बड़ी सावधानी से चीरा गया। चीरने के वाद जो दृश्य दिखाई दिया उससे देखने वालों के रोंगटे खड़े हो गए। सभी आश्चर्य-चकित रह गये और विस्मित दृष्टि से कुमार के चेहरे की ओर ताकने लगे। कमठ ने जैसे काठ मार गया। वह भौचक्का हो गया और लज्जा से उस का सिर झुक गया। तड़फड़ाते हुए नाग-नागिनी को दिखाकर कुमार वोले—तापसजी, क्या आप मुझसे अब भी पूछना चाहते हैं कि आप क्या हिंसक अनुष्ठान कर रहे हैं ?

कुमार फिर बोले—'तापस जी, मस्तक पर लगी हुई कालिमा पैर धोने से साफ नहीं होती। इसी प्रकार आध्यात्मिक मलिनता शारीरिक तपस्या से नही हट सकती। उसे दूर करने के लिए आध्यात्मिक पवित्रता अनिवार्य है। ऊपरी कायक्लेश से तब तक कोई लाभ नहीं जब तक कि वह आत्मा की उज्ज्वलता में सहायक न हो। अहिंसा और संयम की साधना पहले करनी चाहिये। इन्ही की साधना के लिए तप की आवश्यकता है। तपस्या द्वारा अहिंसा और एक संयम की प्राप्ति जब न होती हो, तो समझना चाहिए-वह वृथा है। जिसे आत्मा-अनात्मा, सत्-असत्, आदि का सम्यग्ज्ञान हो गया है, वही सम्यक् तपस्या का आचरण कर सकता है। अतः आप पहले ज्ञान प्राप्त कीजिए। अज्ञान दूर कीजिए। तब आपका कल्याण होगा। अज्ञान-तप संसार का ही कारण है—मुक्ति का नहीं।

तापस कमठ कुमार का उपदेश सुनकर चुपचाप वहां से चल दिया। वह लज्जा का मारा कुछ भी न वोल सका। उसके भक्त भी इधर-उधर बिखर गए। कमार ने मरणासन्न नाग-नागिनी को

महा पवित्र और परम मंगलमय नमस्कार-मंत्र सुनाया। दोनों ने आन्तरिक श्रद्धा के साथ उसे श्रवण किया। महामंत्र के प्रभाव से नाग, नागकुमार जाति के देवों का धरणेन्द्र नामक इन्द्र हुआ और नागिनी धरणेन्द्र की पद्मावती नामक इन्द्राणी हुई। वह कमठ तापस अज्ञान तप तपता हुआ आयु के अंत में भवनपति से मेघमाली नामक देव हुआ उसने डेढ़ पल्योपम की आयु प्राप्त की। कमठ देवता तो होगया पर कुमार पार्श्व के प्रति उसका उग्र विरोध भाव बना ही रहा। वह सदैव इस चिन्ता में रहता था, कि कोई मौका हाथ आवे और अपने अपमान का उनसे प्रतिशोध करूँ। सच है—खल जन अपने हितैषी को भी अहितैषी समझ कर उनका अनिष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। खलों की शक्ति दूसरों की रक्षा-सेवा-सहायता में प्रयुक्त न होकर उलटी पीडा पहुँचाने में व्यय होती है।

वैराग्य

इधर पार्श्वकुमार संसार में रहते हुए भी अलिप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। ऋतुराज वसंत का आगमन होने पर एक वार वायुसेवन के लिए वे नगर से बाहर गये। उनकी विचार धारा आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर श्री अरिष्टनेमि तक समस्त तीर्थंकरों के पावन चरित्र की ओर मुड़ गई। उन्होंने मन ही मन समस्त तीर्थंकरों के जीवन वृत्तान्त पर विचार करते हुए श्रीनेमिनाथ के संबंध में सोचा—धन्य है तीर्थंकर नेमिनाथ! वे विवाह करने गये थे और बिना विवाह किये ही दीक्षा धारण की। उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य पालन किया था। मुझे संसार में रहते-रहते इतना समय हो गया है। अब तो आत्म कल्याण के

पथ का अनुसरण करना ही चाहिए । विषयभोग भोगते हुए प्राणी कभी तृप्त नहीं होता । तृप्ति का साधन यदि भोग होते तो अनादिकाल से अब तक भोगे हुए भोग प्राणीमात्र को तृप्त कर देते । इस प्रकार विचार करते-करते कुमार पार्श्व के जन्म-जन्मान्तरों मे पुंजीकृत वैराग्य के संस्कार उद्भूत हो गये । उन्होने उसी समय द्वादश अनुप्रेक्षाओ का इस प्रकार चिन्तन किया:—

बारह भावनाएँ

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहाउ जिणित्ता णं सव्वसत्तू जिणा महं ॥
—आगम

जो लोग सर्वथा बहिर्वृत्ति नहीं है, जिन्होने अपने अन्तःकरण और अन्तरात्मा की ओर तनिक भी लक्ष्य किया है वे सब एक मत से मन की अद्भुत शक्तियो को स्वीकार किये विना नही रह सकते । मन मे ऐसी-ऐसी विचित्र शक्तियां है कि उस का सावधान होकर निरीक्षण करने वाला पुरुष चकित रह जाता है । वह कल्पना मात्र से इस बाह्य दृश्य जगत से भी अधिक विशाल जगत् का सर्जन करता है । मनुष्य को अपने चक्कर मे फँसा कर दयनीय दशा मे पहुँचाता है । किन्तु मनुष्य यदि उसे अपने नियंत्रण मे ला सके तो वह समस्त दु.खो से मुक्त होने मे सहायक भी बन जाता है । इसीलिए कहा गया है—

"मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठसो परिधावइ"

अर्थात् मन ही साहसिक भयंकर और दुष्ट कार्यो मे अपनी गफलत से दौड़ता रहता है और उसी को वश मे रखने से पाप

के बन्धन टूट जाते हैं। मुमुक्षु जीवों को प्रधान रूप से अपने मन पर ही अधिकार करना पड़ता है। ध्यान, धारणा, समाधि, योग, स्वाध्याय आदि-आदि मन का नियंत्रण करने मे पर्याप्त सहायता पहुँचाते है। इसी उद्देश्य से जैनागम मे बारह भावनाओं के पुनः पुनः चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है।

बारह भावनाओं के चिन्तन से प्रथम तो मन एकाग्र रहता है, इसे इधर-उधर दौड़ने-भागने का अवसर नही मिलता, दूसरे वैराग्य की वृद्धि होती है। मुमुक्षु जीव वैराग्य के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ सकता और वैराग्य की वृद्धि मे बारह भावनाएँ प्रबल कारण है।

मोक्ष-मार्ग के पथिक जन भावना-चिन्तन के बिना सफल नहीं हो सकते। मुख्य रूप से भावनाएँ बारह प्रकार की है--

अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, एगत्ताणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा, अरणत्ते-अणुप्पेहा, असुइ अणुप्पेहा, अन्नायाणुप्पेहा, संवरे-अणुप्पेहा, निज्जरे-अणुप्पेहा, लोगे-अणुप्पेहा, बोहिदुल्लहे-अणुप्पेहा, धम्मेअणुप्पेहा।

—आगम

अर्थात—

(१) अनित्य भावना	(७) आस्रव भावना
(२) अशरण भावना	(८) संवर भावना
(३) एकत्व भावना	(९) निर्जरा भावना
(४) संसार भावना	(१०) लोक भावना
(५) अन्यत्व भावना	(११) बोधिदुर्लभ भावना
(६) अशुचित्व भावना	(१२) धर्म भावना

(१) अनित्य भावना

संसार में सब से अधिक शक्तिशाली समझे जाने वाले इन्द्र, देव, चक्रवर्ती, वासुदेव, वलदेव आदि-आदि महापुरुष भी देखते-देखते चल वसते है। संसार की वड़ी से बड़ी ऋद्धि, सम्पत्ति, सब जल के वुलवुले के समान, बिजली की चमक के समान, सन्ध्याकालीन लालिमा के समान और इन्द्रधनुष के समान क्षण-विनश्वर है।

जो पुण्यात्मा प्रातःकाल सम्राट् के सिंहासन पर विराजमान होते हैं, वही पुण्य क्षीणता के कारण मध्याह्न होने पर जंगल की खाक छानते फिरते है। संध्या होते-न-होते इस जीवन का परित्याग कर देते है।

पुत्र, मित्र, कलत्र के लिए यह जीव दिन-रात चिन्तित रहता है। पर अनादिकाल से न जाने कितनी बार इनका संयोग हो चुका है। वह अनन्त बार का संयोग कभी स्थायी नही हुआ। सब कराल काल के विकराल उदर मे समा गये। किसी को किसी की प्रतिज्ञा नही। तब क्या वर्त्तमान, संयोग स्थायी हो सकेगा? फिर इनके लिए व्यर्थ चिन्ता और खेद किस लिए?

पूर्व-जन्म मे जो शत्रु थे वही इस जन्म मे मित्र बन जाते है। पूर्वजन्म में जो माता थी वही इस जन्म मे पत्नी या पुत्री बन जाती है। पिता पुत्र बन जाता है पुत्र पिता वन जाता है। तब इस अनवस्थित संसार मे कौन किसका क्या है? कौन ऐसा जीवधारी है जिसके साथ सब प्रकार के सबंध न हो चुके हों? किस-किस की चिन्ता की जाय किस-किस के वियोग का शोक किया जाय?

जिस देह के संबंध से स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव आदि की कल्पना करके राग-वृद्धि की जा रही है वह देह ही एक दिन अग्नि में भस्म हो जायगा, मिट्टी में मिल जायगा या कोई जीव-जन्तु खा जायगा। तब यह संबंध स्वत. नष्ट हो जाएँगे। इनके लिए आत्मा के शाश्वत श्रेय में विघ्न डालना अज्ञान है।

इस प्रकार पुन पुन चिन्तन करना अनित्य भावना है।

(२) अशरणभावना

यदि तुमने मृत्यु की आज्ञा का लोप करने वाला बलवान् पुरुष देखा या सुना हो तो उसी की आराधना करके उसके शरण में जाकर रहो। न देखा सुना हो तो व्यर्थ श्रम करने से क्या लाभ है?

वास्तव में इस विशाल भूतल पर ऐसा कोई समर्थ पुरुष नहीं जिसके गले में काल का निर्दय पाश न पड़ा हो। तब किस के शरण में जाएँ? प्राणी जब दुर्निवार कालरूपी सिंह की दाढ़ों के बीच आ जाता है तो मनुष्य बेचारा किस गिनती में है, देव भी स्वर्ग से आकर रक्षा नहीं कर सकते।

सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र—सभी अन्त में काल के जाल में फँस जाते हैं। कोई उसका निवारण नहीं कर सकता। काल रूपी सर्प से सेवित संसार रूपी वन में सभी पुराण-पुरुष प्रलय को प्राप्त होगये हैं। उनकी कोई रक्षा नहीं कर सका। यह काल-सर्प बालक-वृद्ध. सधन-निर्धन, राजा-रंक सभी को समान भाव से डँसता है।

पापी जन अपनी और अपने पुत्र-पौत्रों की रक्षा के लिए अनेक अकर्त्तव्य कर्म करते हैं। घोर हिंसा का अनुष्ठान करके

देवी-देवता को प्रसन्न करना चाहते हैं पर उन मूढ़ो को यह पता नही कि देवी-देवता भी मृत्यु के शिकार ही है। मणि, मन्त्र, तंत्र, यंत्र, आदि कोई भी उपाय मृत्यु को क्षण भर भी नही टाल सकता। किसी मे मृत्यु को निवारण करने की शक्ति होती तो क्या स्वर्ग के सर्वोत्तम भोगो का त्याग करके सुरेन्द्र काल के वश मे होता ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण करो। संसार मे परिभ्रमण करने वाले प्राणियो के लिए अन्य कोई भी शरण नही है।

इस प्रकार पुनः पुनः चिन्तन करना अशरण भावना है।

(३) एकत्व भावना

जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही गर्भ मे आकर देह प्राप्त करता है, अकेला ही बालक, युवक और वृद्ध होता है। इसके रोग को, शोक को, आधि-व्याधि को दूसरा कोई नहीं बँटा सकता। जीव अकेला ही पुण्य का संचय करता है, अकेला ही स्वर्ग के सुख भोगता है, अकेला ही कर्म खपा कर मुक्ति पाता है। अकेले ही पाप का बंध करता है, अकेला ही नरक की घोरातिघोर यातनाएँ भुगतता है, अकेला ही मरण-शरण होता है। स्त्री पुत्र, मित्र बन्धुजन टुकुर-टुकुर देखा करते है पर दुःख का लेशमात्र भी बांट नही सकते। यह सब जानता हुआ भी जीव मोह-ममता नहीं त्यागता! हे भव्यात्मन्! अन्तर्मुख होकर जरा विचार कर कि जिन आत्मीय जनो के राग मे अंधा होकर उनके राग-रंग और प्रसन्नता के हेतु तू अठारह पापस्थानकों का सेवन करता है, क्या वे उन पापो का फल उदय मे आने पर तेरा साथ दे सकेंगे ? तेरी धन-दौलत के समान तेरे पाप-कृत्यो मे

हिस्सेदार बनेंगे ? यदि नहीं तो हे भोले जीव ! अपना आपा विचार । आत्मा के सिवाय और किसी मे अनुराग न कर । धर्म का सचय कर जिससे आत्मा का कल्याण हो ।

संयोग-वियोग मे, उत्पत्ति-मरण मे, तथा सुख-दु ख मे प्राणी के लिए दूसरा कोई भी सहायक सखा नहीं है ।

इस प्रकार चिन्तन करना एकत्व भावना है ।

(४) संसार भावना

दु.ख रूपी दावानल से क्षुब्ध, चतुर्गति रूप भयंकर भवरो से व्याप्त, इस ससार-सागर मे प्राणी दीन-हीन अनाथ होकर जन्मते-मरते रहते है । यह जीव कभी त्रस, कभी स्थावर होकर, कर्म रूपी बेड़ियो से जकड़ा हुआ कभी तिर्यञ्च का शरीर धारण करता है,कभी मनुष्य होता है, कभी पुण्य के योग से देव बनता है और पुण्य क्षीण होने पर फिर तिर्यंच और नरक गति के अत्यन्त घोर और असह्य दुःख झेलता है ।

स्वर्गीय सुखो में मस्त देवता रोता-पुकारता हुआ पशु बन जाता है और पशु देव बन जाता है । जाति मद मे उन्मत्त ब्राह्मण, चांडाल हो जाता है और चाडाल क्रियाकांडी ब्राह्मण बन जाता है ।

चारों गतियों मे अनन्त बार जन्म ले-लेकर इस जीव ने कौनसी योनि नही भोगी ? कौनसी पर्याय है जिसे यह न भोग चुका हो ? कौन ऐसा प्राणी है जो शत्रु, मित्र, पिता, पुत्र आदि सब कुछ न बन चुका हो ?

ओह ! इस संसार मे क्या सार है जहॉ बड़े से बड़ा सम्राट् मर कर तत्काल कीड़ा-मकोड़ा बन जाता है । यह दुःखों का ग्रास

है। नरक में शूल, कुल्हाड़ी, घानी, अग्नि, क्षार, छुरा, कटारी आदि-आदि नाना प्रकार के घोर व्यथा पहुँचाने वाले साधनों से निरन्तर दुःख सहन करने पड़ते है। तिर्यञ्च गति के दुःख प्रत्यक्ष हैं। मनुष्य गति में नाना प्रकार के शोक, संताप, आधि, व्याधि घेरे रहती है और मृत्यु सदा सिर पर मंडराती रहती है। देवगति भी अनित्य है। वहाँ से चल कर फिर घोर मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

समस्त संसार मानो एक बड़ी भारी भट्टी है। उसमे प्राणी जल-भुन रहे है। जैसे उबलते हुए अदहन में चावल इधर-उधर भागते फिरते है—कही भी उन्हे शान्ति प्राप्त नही होती इसी प्रकार जल मे, थल मे, आकाश मे इस जीव को कही विश्राम नही, शान्ति नही, साता नही। फिर भी अज्ञानी जीव संसार में रचे-पचे है। संसार से मुक्त होने का प्रयत्न नही करते।

इस प्रकार सर्वथा असार, दुःखो के सागर तथा भयानक ससार मे विचार करने पर क्या कही भी सुख प्रतीत होता है ? नही।

(५) अन्यत्व भावना

जीव जब मरता है तब शरीर यही छोड़ जाता है, जब जन्मता है तो पुराना शरीर साथ नही लाता। यह सब जानते है फिर भी आश्चर्य है कि मोही जीव आत्मा और शरीर को एक-मेक समझ रहा है।

आत्मा चिदानन्दमय है, उपयोग-स्वभाव वाला है। शरीर जड़ है, सड़ने-गलने वाला, अपवित्र और मूर्तिक है। दोनो एक कैसे हो सकते है? अनादिकालीन कर्मबंध के कारण यद्यपि

दोनों । संयोग हो रहा है फिर भी स्वरूप से दोनों निराले हैं। दोनों का भेद जन्म और मृत्यु के समय स्पष्ट मालूम हो जाता है वास्तव में जड और चेतन का क्या संबंध !

जब आत्मा शरीर से ही भिन्न है तो सगे-संबंधियों से, धन-सम्पत्ति से तथा भोगोपभोग के साधनों से अभिन्न कैसे हो सकता है ?

मोहीजीव जगत् के चेतन-अचेतन पदार्थों को अपना मानकर ही अबतक संसार में भटकता फिरता है। जिस दिन आत्मा के अतिरिक्त समग्र विश्व की वस्तुओं का अन्य रूप से श्रद्धान होगा उसी दिन सर्वोत्तम मंगल-मार्ग प्राप्त होगा।

हे जीव, निश्चय से समझ ले कि संसार में एक भी वस्तु आत्मा से अभिन्न नहीं है। स्त्री, पुत्र, पिता आदि सब अपने-अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार उत्पन्न हुए हैं और पेड़ पर पक्षियों के समान अकस्मात् उनके साथ तेरा संयोग हो रहा है शीघ्र ही वह नव प्रभात आ रहा है जब सब अपने-अपने नये ठिकाने खोजते फिरेंगे। उस समय कोई किसी का न होगा। संसार में तू ही तेरा है, जो तुझसे भिन्न है उसे लाख चेष्टा कर के भी तू अपना नहीं बना सकता। अतएव पुत्र, मित्र, कलत्र को सांसारिक वस्तुओं और वैभवों को तू प्रतिक्षण आत्मा से भिन्न विचार किया कर।

इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचि भावना

जिस शरीर की सुन्दरता पर लोग इतराते हैं, जिसका अभिमान करते हैं और जिसे सजाने के लिए अनेक पापमय सामग्री

का संचय करते है, उस शरीर का वास्तविक स्वरूप कितना घिनौना है। देह के समान गंदगी का गेह समस्त संसार मे और कुछ नही है। ऊपर से मढ़ी हुई चमड़ी की चादर उतार कर शरीर का भीतरी भाग देखा जाय तो कितनी घृणास्पद वस्तुएँ दिखाई पड़ेगी? पवित्रता-पवित्रता का राग आलापने वाला क्रिया-कांडी कभी यह सोचता है कि वह अपने साथ अशुचि का भडार भरे फिरता है?

शरीर प्रथम तो घृणाजनक रज-वीर्य के सयोग से उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने पर वह मल-मूत्र, रक्त, मास पीव आदि अशुद्ध वस्तुओ से सदैव घिरा रहता है। यह हाड़ो का पिंजरा है और नसो से बधा हुआ है। इस शरीर मे कौन-सी वस्तु प्रशंसनीय है? लट और कीड़ो से भरा हुआ यह शरीर किस विवेक-शाली को प्रीतिकर हो सकता है?

शरीर इतना अधिक मलिन है कि इसके ससर्ग से आने वाली प्रत्येक वस्तु मलिन और घृणास्पद बन जाती है। उत्तम से उत्तम, सरस, स्वादु और मनोज्ञ भोजन करो। वह ज्योही शरीर के भीतर पहुँचा नही कि विकृत हुआ नही। शरीर के ससर्ग से वह सुन्दर भोजन मल मूत्र रक्त-मांस आदि बन जाता है।

कदाचित् समुद्र का सारा जल लेकर यदि शरीर शुद्ध किया जाय तो समुद्र-जल ही अशुद्ध हो जायगा। शरीर शुद्ध होने का नही। शरीरो मे भी मानव-शरीर और अधिक गंदा है। जान-वरो का गोबर काम आता है, चमड़ी और सींग आदि भी काम आ जाते है पर मनुष्य के शरीर का प्रत्येक भाग अशुद्ध होने के कारण अनुपयोगी है। इसके नौ द्वारो से सदा अशुचि निकलती रहती है। फिर भी यह अज्ञानी प्राणी शरीर पर ऐसा राग रखते

है जैसे चील, कौए और कुत्ते मुर्दे पर राग रखते हैं।

जिन्होंने शरीर पाकर उसे आत्म-कल्याण मे लगाया है वे महापुरुष धन्य है। उन्होंने अपवित्र शरीर से आत्मा का उद्धार किया है। हे भव्य जीव! तू शरीर के कारण ही अब तक सब अनर्थों को भोग रहा है। शरीर ने ही तुझे नाना प्रकार की विपदाओं का केन्द्र बनाया है। अब इस शरीर का धर्माचार मे प्रयोग कर। देह का यह पींजरा सदा रोगों का घर है, इसके रोम-रोम मे रोग भरे है, सदा अशुचि का घर है और सदा पतनशील है।

(७) आस्रव भावना

मन, वचन और काय को योग कहते है। तत्त्वज्ञानी महा पुरुषो ने योग को ही आस्रव कहा है।

जैसे समुद्र मे जहाज छिद्रो से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार जीव शुभाशुभ योगरूपी छिद्रो से कर्मो को ग्रहण करता है।

प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य, नियम, यम, मैत्री प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदि उत्तमोत्तम भावो से शुभ कर्मों का आस्रव होता है और कषाय रूप अग्नि से प्रज्वलित तथा इन्द्रिय विषयो से व्याकुल योग अशुभ कर्मों के आस्रव का कारण होता है। इसी प्रकार सासारिक व्यवहारोंसे रहित, श्रुत ज्ञान के अवलंबन से युक्त, सत्य रूप प्रमाणिक वचन शुभास्रव के तथा निन्दारूप, असन्मार्ग के प्ररूपक, असत्य, कठोर, अप्रिय वचन अशुभ आस्रव के कारण होते है। भली भाँति वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से शुभकर्म का तथा सावद्य व्यापारों

में व्यापृत काय से अशुभ कर्म का आस्रव होता है।

यह आस्रव संसार का प्रधान कारण है। इसी के कारण जीव संसार में भ्रमण करता और अपने असली स्वरूप से वंचित रहता है। मुमुक्षु जीव शुभ योग के आलम्बन से अशुभ योग को हटाते है और शुद्ध भावों के द्वारा शुभास्रव का भी विरोध करके अन्त मे निष्कर्मा हो जाते हैं।

(८) संवर भावना

पूर्वोक्त आस्रव के रुक जाने को संवर कहते है। जैसे चारों ओर से पाल बाँध देने पर इधर-उधर से तालाब मे नवीन जल का प्रवेश नही हो पाता उसी प्रकार संवर रूपी पाल नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देती है। संवर मुक्ति का कारण है। वह उपादेय तत्त्व है।

संवर दो प्रकार का है—(१) द्रव्य संवर और (२) भावसंवर कर्म रूप पुद्गलो का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है और संसार की कारणभूत क्रियाओं से विरत हो जाना—सावद्य व्यापारों का परित्याग करना भावसंवर है।

जैसे बख्तर आदि सामग्री से सजा हुआ पुरुष युद्ध में बाणों से नही भिदता उसी प्रकार संवर शील 'संयमी' महापुरुष भी असंयम के बाणों से नहीं भिद सकता। अतएव जिस कारण से आस्रव होने की संभावना हो उसका प्रतिपक्षी कारण उपस्थित करके संवर की साधना द्वारा आस्रव को रोकना चाहिए जैसे—क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया कषाय को आर्जव से और लोभ को त्याग से रोकना चाहिए। संयमी मुनि निरन्तर समभाव एवं निर्ममत्व भाव से राग-द्वेष का निराकरण करने मे

उद्यमशील रहते हैं। वे सतत सावधान रहते हुए अपने योगों का निरीक्षण करते हैं और कब, कौन-सा भाव मन में उत्पन्न हुआ सो भली भांति समझते हैं। यदि वह भाव अशुभ हुआ तो उसके प्रतिपक्षी भाव को ग्रहण करके उसका उपशमन करते हैं। वे अविद्या या अज्ञान को, तत्त्वज्ञान के द्वारा निराकरण करते हैं और असंयम रूपी विष के उद्गार को संयम रूप अमृत से दूर करते हैं।

जैसे चतुर द्वारपाल मलिन और असभ्य जनों को महल में प्रवेश नहीं करने देता उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पापबुद्धि को नहीं प्रवेश करने देती।

आत्मा जब कल्पनाओं के जाल से मुक्त होकर, अपने वास्तविक स्वरूप में मन को निश्चल कर लेता है तभी परम संवर की प्राप्ति होती है।

(९) निर्जरा भावना

जन्म-मरण के कारण भूत कर्म जिससे जीर्ण होते हैं वह निर्जरा है पूर्वबद्ध ज्ञानावरण आदि कर्मों का फल जब उदय में आ जाता है वह कर्म झड जाते हैं। यही कर्मों का झडना निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार की है—(१) सकाम निर्जरा और (२) अकाम निर्जरा। स्थितिपूर्ण होने से पहले तपस्या के द्वारा कर्मों का खिरना सकाम निर्जरा है और कर्म की बंधी हुई स्थिति पूर्ण होने पर, फल देने के बाद, उस कर्म का खिरना अकाम निर्जरा है। पहली निर्जरा तपस्वी मुनियों को होती है और दूसरी चारों गतियों में सब जीवों को प्रति क्षण होती रहती है।

मुनि का उपशमभाव तथा तप ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यो निर्जरा भी बढ़ती जाती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के जितनी निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुनी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि को होती है। इसी प्रकार श्रावक, मुनि, अनन्तानुबंधी कषाय का विसयोजक, दर्शनमोह-क्षपक, उपशम श्रेणी वाला उपशान्त मोह, क्षपक श्रेणी वाला, क्षीणमोह, सयोग केवली, और अयोग केवली के उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यात गुनी निर्जरा होती है।

जो मुनि दूसरे द्वारा कहे हुए दुर्वचनों को सुनकर कषाय नही करता, अतिचार आदि लगने पर यदि आचार्य कठोर वचन कहकर भर्त्सना करे, निरादर करे या प्रायश्चित द तो शान्ति के साथ सहन करता है तथा उपसर्गों को समतापूर्वक भोगता है उसके विपुल निर्जरा होती है।

उपसर्ग या परीषह को चढ़ा हुआ ऋण समझकर जो मुनि समता से उसे चुकाता है, शरीर को मोह-ममता जनक, विनश्वर एवं अपवित्र मानता है, जो आत्मस्वरूप मे स्थिर रह कर दुष्कृत की निन्दा करता है, बाह्य या अंतरंग तपस्या करता है, गुणी जनो का आदर करता है, इन्द्रियो और मन को गुप्त करता है वह विशेष निजरा का पात्र होता है।

इस प्रकार निर्जरा भावना से भावित अन्त.करण वाला मुनि निर्जरा का पात्र बनकर सिद्धि पाता है।

(१०) लोक भावना

जहा जीव-अजीव आदि भावों का अवलोकन होता है उसे लोक कहते है। लोक के बाहर का समस्त खाली प्रदेश जो

अपरिमित है, अनन्त है, वह अलोक कहलाता है।

तीन भुवन सहित यह लोक अन्त मे चारों ओर से तीन वात वलयो से घिरा हुआ है और नीचे से चौड़ा, बीच में सरल तथा अन्त मे कुछ विस्तार रूप है। वह कमर पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार से मिलता-जुलता है। चौदह राजू ऊँचा है। उसके अग्रभाग पर अनंत सिद्ध भगवान् शाश्वत विराजमान है। उनके नीचे देवताओं का निवास है। मध्य मे मनुष्य और तिर्यञ्च रहते है। इस भाग को मध्यलोक कहते है। मध्यलोक के नीचे सात नरक है। इस भाग को अधोलोक कहते हैं।

लोक, घन, घनोदधि और तनु वातवलय पर और वातवलय आकाश पर प्रतिष्ठित है। कोई कछुवे की पीठ पर या शेषनाग के फन पर ठहरा हुआ कहते है सो मिथ्या है। यदि लोक शेषनाग के फन पर या कछुवे की पीठ पर ठहरा हो तो शेषनाग या कछुवा निराधार कहां ठहरेंगे? वस्तुतः यह सब कल्पना है।

इसी प्रकार कोई कोई कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा के द्वारा बनाया गया है या अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न हुआ है। यह भी कल्पना मात्र है। लोक अनादि है, अनन्त है, और अकृत्रिम है। न कभी वह उत्पन्न हुआ, न कभी उसका विनाश होगा।

इस लोक मे कर्मों के अधीन होकर समस्त जीव चारों गतियों मे भटकते फिरते है। कभी नर, कभी नारकी, कभी देव कभी तिर्यञ्च होते है। अनादिकाल से लगातार परिभ्रमण करते रहने पर भी इस परिभ्रमण का अन्त नही आया है।

इस प्रकार के लोक के स्वरूप का, लोक के संस्थान का तथा लोक मे अवस्थित भावों का पुन. पुनः चिन्तन करना लोक

भावना है। इस भावना में मन को उलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है।

(११) बोधि दुर्लभ भावना

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥

अर्थात् प्राणी को चार अंगों की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है—मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण श्रद्धा और संयम मे पुरुषार्थ।

बहुत से ऐसे प्राणी हैं जो नरकों के नीच निगोद स्थान मे पड़े रहते है। प्रथम तो उनका उस निगोद से बाहर निकलना ही कठिन है संयोगवशात् कदाचित् निगोद से निकले तो पथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों मे उत्पन्न हाते है अधिक पुण्य का उदय हुआ तो त्रसकाय की प्राप्ति होती है। त्रसमे कभी लट आदि द्विन्द्रिय, कीड़ी आदि त्रीन्द्रिय,भ्रमर आदि चतुरेन्द्रिय प्राणी हो जाता है। पांचों इन्द्रियों की प्राप्ति होना दुर्लभ है। कदाचित् पुण्य और अधिक बलवान हुआ तो पंचेन्द्रिय होता है। पंचेन्द्रिय होकर भी मनुष्य गति, आर्यकुल, उत्तम देश, अविकल इन्द्रियां, उत्तम बुद्धि आदिकी प्राप्ति होना बड़ा दुर्लभ है। तात्पर्य यह है, कि लाखो-करोड़ो ऐसे मनुष्य है जो मनुष्य तो कहलाते है पर उनमे वास्तविक मनुष्यत्व नही पाया जाता। शुभ कर्मों के संयोग से मनुष्यत्व की प्राप्ति हो भी जाय तो वीतराग, हितंकर एवं सर्वज्ञ भगवान् के परमागम के श्रवण-मनन करने का योग मिलना कठिन है। वह भी कदाचित् मिल जाय तो 'सद्धा परम दुल्लहा' अर्थात् उस पर श्रद्धा होना दुर्लभ है। श्रद्धा के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति असंभव है।

जिन पुण्यात्मा पुरुषों को प्रबल पुण्य के उदय से उल्लिखित समस्त दुर्लभ सामग्री प्राप्त हो चुकी है वे धन्य हैं और जो इस सामग्री को आत्मकल्याण में लगाते हैं वे अतिशय धन्य हैं।

हे आत्मन्! थोडा विचार कर कि संसार मे असंख्य जीव-जन्तु-कीड़े-मकोड़े, दृष्टिगोचर होते हैं। मैं उन सब योनियों से बचकर विवेकशाली मनुष्य पर्याय को प्राप्त हुआ हूँ, सो यह कितने असीम पुण्य का उदय है! ऐसा अवसर बार-बार मिलना कठिन है। बाजी हाथ से चली गई तो फिर हाथ आना कठिन है। अतएव जब तक इन्द्रियां काम करने में समर्थ हैं, जब तक शरीर जीर्ण नही हुआ है, मस्तिष्क मे विवेक शक्ति है तब तक शीघ्र चेत! बोधिरत्न को प्राप्त कर।

इन्द्र का पद मिलना सरल है, सम्राट् का सिंहासन मिलना भी कठिन नही है, सांसारिक विषय-भोग सहज ही मिल जाते हैं पर समस्त मनोवाञ्छित कार्यों को सिद्ध करने वाला बोधि रूपी चिन्तामणि पाना अत्यन्त दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र की प्राप्ति इस संसार मे दुर्लभ से भी दुर्लभ है। ऐसा समझ कर तीनों का महान् आदर करो।

(१२) धर्म भावना

धम्मो मंगलमुक्कट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

अहिंसा संयम और तप रूपी धर्म मंगल और उत्कृष्ट है धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बान्धव है। धर्म ही अनाथों का प्रेमी है, यही बिना किसी प्रयोजन के रक्षा करता है।

धर्म जगत को पावन करता है, संसार के कष्टों मे पड़े हुए प्राणियों का उद्धार करता है, धर्म मनोवांछित फल देने वाला

कल्पतरु है। धर्म के विना संसार भर में कोई जीव का हितकारी नहीं है। जिसके हृदय में धम की प्रतिष्ठा होती है, चिन्तामणि नवनिधि, चौदह रत्न, कामधेनु आदि-आदि उसके किंकर हो जाते हैं। धर्म तीर्थकर का पद प्रदान करता है। धर्म, अमृत का वह झरना है जो जगत् को शीतल, शान्त और तृप्त करता है और जिसमें अवगाहन करने वाले जीव अजर-अमर पदवी के पात्र होते हैं। जो पुण्य पुरुष अपना अन्तःकरण धर्म में स्थापित करता है उसके चरण कमलों मे देवता और चक्रवर्ती तक प्रणाम करते हैं।

धर्म ही नरक-निगोद के भीषण दुःखों से प्राणी को बचा सकता है। वही परलोक में साथ जाता है, रक्षा करता है, हित करता है।

कोई भी राष्ट्र, कोई भी समाज और कोई भी व्यक्ति धर्म की अवहेलना करके उत्थान का भागी नही बन सकता। धर्मात्मा प्राणी के लिए साप, मा ा बन जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है, सिंह-व्याघ्र, पालतू कुत्ते के समान बन जाते हैं, विकट संकट आनन्द के प्रसंग बन जाते है, पराजय में विजय का मार्ग उन्मुक्त हो जाता है।

ऐसे उत्तम धर्म की प्रधान कसौटी यह है, कि जो व्यवहार तुम अपने लिए पसन्द नही करते वह व्यवहार दूसरों के लिए भी बुरा समझो। धर्म के मुख्य तीन रूप हैं अहिंसा, संयम और तप। विश्व के समस्त प्राणियों पर मैत्रीभाव होना, मन-वचन-काय से िसी को कष्ट न पहुँचाना, ात्विक वृत्ति रखना, दीन दुखी जीवों की रक्षा करना, हित-मित प्रिय वचन बोलना, मनसे पर-हित सोचना, राग-द्वेष-मद-मोह आदि विकारों पर विजय

प्राप्त करना, आदि अहिंसा है।

चित्त की वृत्तियों को रोकना, उसे स्वच्छन्द न होने देना, इन्द्रियों को अपने अधीन बनाना, विषयों की लोलुपता का परित्याग करना, इष्ट-अनिष्ट मे समता रखना, सदा उपशान्त भाव रखना संयम है।

शास्त्रों मे तप दो तरह के बतलाये गये हैं, बाह्य तप और अन्तरंग तप। शरीर और इन्द्रियों का दमन करना और उस दमन के लिए अनशन, ऊनोदर, आदि तपस्या करना बाह्य तप है। मन का दमन करना और दम करने के लिए स्वाध्याय, ध्यान विनय, वैयावृत्य आदि करना अन्तरंग तप है। तीव्र से तीव्र कष्ट आ पड़ने पर उसे व्याकुलता-रहित होकर झेल लेना भी एक प्रकार का तप है। संयम और तप अहिंसा की साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी है और अहिंसा परम धर्म है। उसका फल मुक्ति है।

क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि को तथा सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को भी धर्म कहा गया है। वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहते हैं। यह सब धर्म परस्पर सगत और समन्वित है।

इस प्रकार धर्म के स्वरूप और उसके महात्म्य का पुनः पुनः चिन्तन करना धर्म भावना है। बारह भावनाओं का यह संक्षिप्त निदर्शन है। विरक्त जनों के लिए आभूषण स्वरूप है।

कुमार को इधर ज्यों ही वैराग्य उत्पन्न हुआ त्यों ही सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट इन नौ लौकान्तिक देवों ने अपनी भुजा आदि के फड़कने से जान लिया, कि कुमार को वैराग्य की प्राप्ति हुई है। वे

उसी समय कुमार के पास आये और इस प्रकार स्तुति करने लगे।

'प्रभो! आपकी जय हो! देव! आपकी विजय हो! हम लोग आपके चरण-कमलों में पुन पुनः प्रणाम करते हैं। नाथ! आप ही मोह रूपी मल्ल के मान को मर्दन करने वाले हैं। आप ही मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को समूल नष्ट करने वाले भास्कर है। भगवन्! प्रतिबुद्ध हूजिए। लोक का कल्याण करने के लिए धर्म तीर्थ की स्थापना कीजिए। दया धर्म की प्रवृत्ति कीजिए। सयम-मार्ग बताइए। अज्ञान के गहरे कूप में पड़े हुए संसारी प्राणियों को द्विविध धर्म का अवलम्बन देकर सहारा दीजिए। हे देव! आप तीन ज्ञान के धारक है। आप सब कुछ जानते हैं। फिर भी नियोग-वश आपकी सेवा में हम लोग उपस्थित होकर आपके वैराग्य का अनुमोदन करते है।"

इस प्रकार अनुमोदन करके लोकान्तिक देव अपने स्थान पर चले गये और भावी तीर्थंकर कुमार पार्श्व अपने राजमहल की ओर विदा हुए। वहां जाकर रात्रि मे फिर उन्होंने संसार के वास्तविक स्वरूप पर विचार किया। प्रातःकाल होने पर वे माता पिता के समीप पहुँचे। यथोचित शिष्टाचार के अनन्तर उन्होंने कहा—पूज्य माता जी-और पिता जी! आपको भलीभाँति विदित है कि मेरा मन संसार से सदा उदास ही रहा है। मुझे सांसारिक विषय-भोगों और आमोद प्रमोदों में पल भर भी-कभी-माधुर्य की अनुभूति नही हुई। फिर भी आप गुरुजनों को सतुष्ट करने के लिए मैं अब तक आपकी सेवा में बना रहा। विवाह करने की मेरी अणुमात्र भी इच्छा न थी पर आपका अनिवार्य आग्रह मै न टाल सका। मैने वह भी स्वीकार किया। मै जानता हूँ कि आप

मुझ से अब तक तृप्त न हुए होंगे। थोड़े दिन और ठहरने से यदि तृप्ति होने की संभावना होती तो मै अवश्य ठहरता और आप को संतुष्ट करके ही दीक्षा ग्रहण करता। पर देखता हूँ संसार अतृप्ति का आगार है। मोह रूपी पिशाच कभी तृप्ति नहीं होने देता। अतएव मै आप से आज्ञा लेकर दीक्षा धारण करना चाहता हूँ।

महाराज अश्वसेन ने कहा—पुत्र! मै जानता हूँ तुम्हारा जन्म साधारण प्राणियो की भाँति विषयभोगो मे व्यतीत करनेके लिए नही हुआ है। तुम्हारे भीतर लोकोत्तर आलोक की आभा चमक रही है। तुम्हारे ऊपर विश्व-कल्याण का गौरव-पूर्ण महान् उत्तर-दायित्व है। सारा संसार तुम्हारे पथ-प्रदर्शन की बाट जोह रहा है। पर माता-पिता के हृदय की कोमलता का थोड़ा विचार करो। तुम्हारे अभाव मे हमारा सर्वस्व लुट जायगा। हम दरिद्र हो जाएँगे। कैसे यह प्राण धैर्य धारण करेंगे? तुम्हारी यह स्नेहमयी माता कैसे जीवित रहेगी? इसलिए मेरे लाल थोड़ा समय और इसी प्रकार व्यतीत कर दो। फिर आनंद से दीक्षा धारण करना।

कुमार ने कहा—पिताजी! यदि मै थोड़ा समय रह भी जाऊँ तो भी मोह कम न हो जायगा। अधिकाधिक संसर्ग से मोह-ममता की अधिक वृद्धि होती है। मेरे दीक्षित होने से आपका सर्वस्व न लुटेगा। आप अपनी इच्छा से मुझे संसारके कल्याणके लिए अर्पित कर दीजिए। फिर मै जैसे संसार का हूँ वैसे ही आप का भी हूँ। संसार मे अन्याय और अधर्म की वृद्धि हो रही है। धर्म का ह्रास हो रहा है। मुझ से यह देखा नहीं जाता। भीतरसे मेरा आत्मा तड़प रहा है। दुखियो की आहे मेरे कर्ण-कुहरो मे प्रवेश करके हृदय को छेद-सी रही है। हिंसा का दारुण नृत्य

मानों मुझे ललकार रहा है। एकान्तवाद या दुराग्रह रूपी निविड़ अंधकार बढ़ता चला जा रहा है इस अंधकार मे अगणित प्राणी विवेकान्ध होकर कुपथ की और बढ़ते चले जाते है। उन्हें अविलम्ब ही सत्पथ बताने की आवश्यकता है । कृपा कर अब आप मुझे न रोकें। शीघ्र दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दे। ममता की मूर्ति माता जी से भी मेरी यही प्रार्थना है।"

महाराज अश्वसेन और वामादेवी ने बहुत समझाया-बुझाया पर अन्त में जब कुमार को अपने संकल्प पर सुदृढ़ पाया तब उन्होंने दीक्षा लेनेकी आज्ञा दे दी। कुमार को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वर्षी दान देना आरंभ कर दिया। सनाथ, अनाथ दीन-हीन, जो भी कोई याचना करने आया। उसे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान में देने लगे। इन्द्र ने, कुबेर को पार्श्व कुमार का कोष भर देने की आज्ञा दी । कुमार प्रति दिन कोष भर देता और कुमार प्रति दिन दान कर देता। यह क्रम अविच्छिन्न रूप से एक वर्ष तक चलता रहा। इसी समय मे कुमार ने अपने संयम जीवन के लिए विशेष तैयारी कर ली। उन्होंने अपने जीवन को अत्यंत संयत निरुपाधिक और सादगी पूर्ण बना लिया।

निष्क्रमण

एक वर्ष व्यतीत होगया। दीक्षा ग्रहण करने का शुभ प्रसंग आ पहुँचा। महाराज अश्वसेन ने राजसी वैभव के अनुकूल दीक्षा-महोत्सव की तैयारी की। एक विशाल और सुन्दर शिविका सजाई गई। उसमें एक बहुमूल्य सिंहासन पर कुमार विराजमान हुए। चन्द्रमा के समान उज्वल रत्नजटित छत्र उनके मस्तक पर

सुशोभित हो रहा था। दोनो ओर चॅवर ढोरे जा रहे थे। चॅवर एकदम स्वच्छ-उज्वल थे। जैसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान हों। शिविका के आगे वन्दी-वृन्द जयजयकार करता हुआ चल रहा था। सजल मेघ के समान गंभीर ध्वनि करने वाले तरह-तरह के वाद्यों की ध्वनि से सारा नगर व्याप्त होगया था। कुलीन स्त्रियां मंगलगान गाती चल रही थी। चॅवर-छत्र आदि राजचिह्नो से युक्त महाराज अश्वसेन हाथी पर सवार होकर चल रहे थे। धीरे-धीरे चलती हुई सवारी नगर के मध्य भाग मे पहुंची। नागरिक जन इतनी उत्कठा से सवारी देखने के लिए इकट्ठे हुए जैसे कोई अद्भुत-अदृष्टपूर्व आश्चर्य देखने के लिए आते हैं। कोई-कोई सवारी का मनमोहक दृश्य देखने के लिए मकानो की ऊंची छत पर चढ़ गये, जैसे ठंड से सताये हुए वानर वृक्ष के ऊपरी भाग पर चढ़ जाते है। कोई इकट्ठे होकर कुमार के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे, जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर देखते है। बहुतेरे लोग मार्ग के दोनो ओर कतार बाध कर खड़े होगये। जैसे एक लोक से दूसरे लोक मे जाने वाले सूर्य के साथ उसकी रश्मियां चली जाती है उसी प्रकार नागरिक जन भगवान् के साथ-साथ जाने लगे। इसी प्रकार स्त्रिया भी झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर कुमार की छबीली मूरत देखने लगी। जैसे उद्यानपाल की आवाज सुनकर वानरी अपने बच्चे को पेट से

पता लगते ही कोई-कोई स्त्री तो एक ही आंख में काजल लगाये दौड़ पड़ी। जल्दी में वह दूसरी आंख में काजल लगाना ही भूल गई। जो मुख पर कस्तूरी का लेप कर रही थी वह सहसा आधे मुखपर ही लेप करके भागी। इस प्रकार अनेक हास्यजनक चेष्टाएं होने लगी। पर कुमार के निष्क्रमण की गंभीरता सब के चेहरो पर छाई हुई थी। सब किञ्चित उदासी लिए हुए चल रहे थे। वन्दीजन विरुदावली वखानते जाते थे और सुरासुर स्तुति करते जाते थे। नगर-निवासियों के नेत्र कुमार के चेहरे पर से हटते न थे। 'जय जय नन्दा, जय जय भद्दा' और जय-विजय-ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। उस समय कुमार की सौम्य मुद्रा अतिशय दर्शनीय थी, मानो त्रिलोकी की समस्त सोमता एकत्र होकर उनके चेहरे पर उत्सव मना रही हो।

इस प्रकार धीरे-धीरे सवारी नगर से बाहर निकल कर उद्यान मे, एक अशोक तरु के समीप पहुंची। कुमार ने अशोक वृक्ष के नीचे खड़े होकर वस्त्रों और आभूषणों को हटा दिया। इन्द्र ने एक देवदूष्य-वस्त्र दिया। इसके बाद अपने हाथों पंच मुष्टि लोच किया। इन्द्र ने उन केशों को लेजाकर क्षीर सागर मे निक्षेप कर दिया। फिर 'नमो सिद्धाणं' कहकर जीवन पर्यन्त के लिए सावद्य योग का सर्वथा त्याग कर दिया। दीक्षा अंगीकार करते ही भगवान् को चौथे मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होगई। यह दिन पोष कृष्णा एकादशी था और उस समय विशाखा नक्षत्र था।

भगवान् ने जिस कठोर मार्ग को ग्रहण किया, जो कठिन प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की, उसे देख-सुनकर सभी उपस्थित जनसमूह का हृदय भर आया। वहुतेरे लोगो की आंखो से आसू छलक

पड़े। माता-पिता और अन्य राजपरिवार के लोग ऐसे खेद-खिन्न हो गये मानो उनका सर्वस्व लूट गया हो। उनके लिये जैसे राज-प्रासादों में कोई आकर्षण ही न रहा। शून्य चित्त, लुटे हुए से, शोक के भार से दबे हुए से, सब लोग रह गये। किसी की इच्छा न होती थी कि नगर को लौटें। अन्त में पर्याप्त समय व्यतीत हो गया तो भगवान् को वन्दना करके राजा-रानी आदि को सान्त्वना देते हुए नागरिक जन नगर की ओर लौटे। प्रभु पार्श्वनाथ ने उस दिन वहीं खड़े रह कर ध्यान किया। भगवान् के साथ तीनसौ और राजकुमारों ने दीक्षा ग्रहण की थी। उन सब के साथ भगवान् ने दूसरे दिन प्रातःकाल वहां से विहार कर दिया।

विहार

तीसरे दिन प्रभु कोपकट नामक सन्निवेश में पहुंचे। वहां अष्टम भक्त (तेले) का पारणा करने के लिये भगवान् ने धन्य नामक गृहस्थ के घर में प्रवेश किया। साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् को अपने घर में अतिथि रूप में आता देख धन्य ने अपना जीवन और अपना धन धन्य समझा। कल्पवृक्ष के समान भगवान् को पाकर उसका सारा शरीर हर्ष के कारण रोमाञ्चित होगया। भगवान् युगमात्र अन्तर पर नेत्र जमाये हुए मानो धन्य के सद्भाग्य से आकृष्ट होते हुए उसके आंगन में पहुंचे। भिक्षा के लिए भगवान् को अपने आंगन में पाकर उसने वन्दना की, नमस्कार किया और इस प्रकार कहने लगा—परमेश्वर! यह शुद्ध आहार तैयार है। इसे ग्रहण कर मुझ पर अनुग्रह कीजिए। भगवान् ने एषणीय आहार जानकर अपने

हाथ फैला दिये। धन्य गृहस्थ ने भगवान् का पारणा कराया। उसी समय आकाश मे "अहो! दानं, अहो! दानम्" का तुमुल घोप हुआ। आकाश मे ही देव-दुंदुभि बज उठी। साढ़े बारह करोड़ सुवर्णमुद्राओं की वर्षा हुई। सुगंधित जल और पुष्पो की झड़ी लग गई। इन आश्चर्यों को देखकर सन्निवेश के अधिपति आदि समस्त नागरिको ने धन्य की बहुत प्रशंसा की। धन्य गृहस्थ हर्ष से फूला न समाया। भगवान् पारणा करके सन्निवेश से बाहर चले गये।

जैसे हवा के लिए किसी प्रकार का प्रतिबंध नही। उसी प्रकार भगवान् भी अप्रतिबंध विहार करते थे। कोई भी रुकावट उनके मार्ग मे विघ्न नही डाल सकती थी। भगवान् का मन निर्विकार और कमल-दल के समान निर्लेप है। वे अग्नि से अधिक कान्तिमान, समुद्र से अधिक गंभीर, मेरु से अधिक अचल है। वे समिति गुप्ति रूप संयम का पालन करने मे भारण्ड पक्षी के समान सदैव अप्रमत्त अवस्था मे विचरते है।

इस प्रकार विचरते हुए भगवान् एक बार कलिगिरि पर्वत के समीप कादम्बरी वन मे पहुंचे। मार्ग की समस्त कठिनाइयां उनके लिए उपेक्षणीय थीं। कष्ट आने पर उन्हे निर्जरा का कारण समझ कर भगवान् उनके प्रति अरुचि का भाव कदापि प्रदर्शित न करते थे। वे एक सरोवर के तीर पर नासा के अग्र भाग पर दृष्टि आरोपित करके ध्यान मे मग्न हो गये।

उसी समय महीधर नामक हाथी सरोवर का जल पीने के लिए उधर आया। उसकी दृष्टि भगवान् की ध्यान-मग्न मुद्रा पर पड़ी तो कुछ विशिष्ट विचार-तरंग उसके अन्तःकरण मे तरंगित हो उठी। उसने अपना उपयोग लगाया तो जातिस्मरण ज्ञान का

उदय होगया। जातिस्मरण उत्पन्न होते ही उसे अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया। उसे जान पड़ा—'पूर्व भव में मै हेम नामक एक लड़का था। मै बौना था अतएव लोग मेरी हंसी उड़ाया करते थे। जो मुझे देखता वही परेशान करता था। मेरी रक्षा पिताजी किया करते थे। परन्तु दुर्भाग्य से एक दिन वे भी संसार त्याग कर चल बसे। लोगों का अब किसी का भय न रहा। वे मुझे और अधिक चिढ़ाने लगे। इस दुःख के कारण मैंने बस्ती छोड़ कर जंगल की शरण ली। जंगल मे भटकते हुए मुझे एक निर्ग्रंथ अनगार के दर्शन हो गये। उन्होंने मुझे खूब सांत्वना दी। धर्म का उपदेश दिया। मैंने श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिए। पर वहा भी पूर्ण शान्ति का अनुभव न कर सका। जो लोग मिलते उनमे से अधिकाश मेरा उपहास करते थे। अतएव मैंने जो धर्माचरण किया था वह शरीर के लिए बेच दिया। मैंने जन्मान्तर मे स्थूल शरीर की प्राप्ति के लिए निदान किया। उस निदान के फलस्वरूप मुझे हाथी का शरीर मिला है। मै पशु होने के कारण विवश हूं। इस परिस्थिति मे प्रभु की सेवा-भक्ति नहीं कर सकता। मै कितना मंदभाग्य हूं।

ध्यान समाप्त कर भगवान् पार्श्वनाथ ने वहा से विहार कर दिया। विहरते-विहरते वे शिवपुरी नगरी के बाहर कौशाम्बी वन मे पधारे। वहां भी उन्होंने ध्यान धारण किया। उधर वह हाथी अपने उदार धार्मिक विचारों के कारण मृत्यु होने पर व्यन्तर देव हुआ।

तापस की धूनी के लक्कड़ मे तड़फते हुए नाग को नमोकार मन्त्र सुनाने से वह धरणेन्द्र हुआ था। धरणेन्द्र ने प्रभु के द्वारा किये हुए महान उपकार का स्मरण कर अपनी कृतज्ञता प्रगट

करने का विचार किया। वह भगवान् के पास आया और पूर्ण रूप से उनकी सेवा में तत्पर हो गया। प्रभु को आतप से बचाने के लिए उसने अपने सात फनों को फैलाकर उनके ऊपर छत्र-सा बना दिया। इस सेवा के लिए उसने अपने भाग्य को धन्य समझा। वह सोचने लगा—'ओह! कमठ की धूनी मे जब मैं जल रहा था, मेरा अन्त निकट ही आ पहुँचा था, तब यदि भगवान् ने असीम अनुग्रह करके मुझे त्रिलोक-पावन, भव-भय-भंजन महामंत्र का श्रवण न कराया होता, तो मेरी कैसी दुर्दशा होती! आर्तध्यान के वश होकर मै नरक या तिर्यंच गति की यातनाएँ भोगता। पर हे नाथ! आप दया के सागर हैं, दुःख-सागर से जीवों को उबारने के लिए सुदृढ़ नौका है और जीवन-नौका के कर्णधार है। आपने मुझ पर जिस करुणा की वर्षा की है, उसका वर्णन करना कठिन ही नहीं असंभव है। आपका औदार्य अप्रतिम है। आप की हितंकरता अपार है। मै सात सौ जन्म तक लगातार सेवा करके भी आपके ऋण का एक कण नही चुका सकता।' इस प्रकार मन ही मन भगवान् की स्तुति करता हुआ धरणेन्द्र भगवान् की सेवा मे सतत दत्तचित्त रहने लगा।

भगवान् अपने लक्ष्य मे इतने अधिक एकनिष्ठ हो गये थे और उनका वीतराग भाव इतना बढ़ गया था, कि वे स्तुति-निन्दा मे, मान-अपमान मे, सेवा विरोध मे, वंदक-वधक मे समान भावना रखते थे। न किसी पर राग, न किसी पर द्वेप, न किसी पर प्रसन्नता, न किसी पर अप्रसन्नता।

प्रभु वहां से विचरते-विचरते राजपुर के उद्यान में पधारे। देवराज धरणेन्द्र अपने स्थान पर चला गया। उस समय राजपुर मे ईश्वर नामक राजा था। राजा एक समय उसी उद्यान के पास

से भ्रमण के लिए निकला जिसमें प्रभु पार्श्वनाथ विराजमान थे। उद्यानपाल ने राजा को भगवान् का वृतान्त कहा। वह बोला—'अन्नदाता! महाराज अश्वसेन के सुपुत्र पार्श्व इसी उद्यान में विराजते हैं और तप तथा संयम का आचरण करते हैं।' राजा प्रभु की सेवा में उपस्थित हुआ। राजकुमार को ऐसी कठिन साधना मे निमग्न देख पहले-पहल तो उसे आश्चर्य हुआ। फिर कुछ अधिक विचार करने पर मालूम हुआ, कि पहले भी मैंने ऐसे मुनि कही देखे हैं' इस प्रकार विचारते-विचारते राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। इस विशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न होते ही जसके नेत्रों पर पड़ा हुआ पर्दा मानों हट गया। उसे अपने पूर्वजन्म साफ-साफ दिखाई देने लगे। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' अर्थात् चेहरे पर उदित होने वाले भाव मन का रहस्य प्रकाशित कर देते है, इस नीति के अनुसार राजा को विचारों मे तल्लीन देखकर मंत्री ने उसके विचारों को ताड़कर पूछा—'महाराज! क्या आपको कोई नई बात ज्ञात हो रही है?' राजा ने कहा 'हां मंत्री, अभी-अभी पार्श्व प्रभु पर दृष्टि पड़ने से मुझे एक अद्भुत ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसा ज्ञान मुझे कभी नहीं हुआ इस ज्ञान के प्रभाव से मैं अपने पूर्व भवों को जान रहा हूँ।' मंत्री ने विशेष जिज्ञासा प्रकट की तो राजा कहने लगा—

इसी भारतवर्ष मे वसंतपुर नामक एक नगर है। उस नगर मे निमित्त शास्त्र का एक धुरधर विद्वान् दत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। उसे कर्मोदय के कारण कुष्ट व्याधि हो गई। इस व्याधि से वह अत्यन्त दुखी रहता था। उसने बड़े-बड़े चिकित्सकों से बहुत प्रकार की चिकित्सा कराई पर आरोग्य-लाभ न हुआ। उसका शरीर सड़ रहा था। सारा शरीर घिनौना और

दुर्गंधित हो गया था। घर वालों ने पहले तो उसकी तन-मन से सेवा की पर उसे निरोग न होते देख अन्त मे उनका जी ऊब गया। उसे भाग्य के भरोसे पर छोड़कर सब लोग अपने-अपने काम में लग गये। विद्वान ब्राह्मण के हृदय पर इस घटना ने तीव्र आघात किया। उसने जीवन को कष्ट-संकुल समझ कर मृत्यु का शरण लेना उचित समझा। सोच-विचार कर वह घर से निकल पड़ा। 'गंगा में मरने से सद्गति-लाभ होता है' इस लोक प्रवाद के अनुसार उसने अपना शरीर गंगा को अर्पण कर देने का विचार किया। वह गंगा के तट पर पहुँचकर कूद पड़ने का उपक्रम कर ही रहा था कि इतने मे विहार करते हुए मुनिराज वहां आ पहुँचे।

मुनिराज ब्राह्मण की चेष्टाएँ देख उसके अन्तःकरण का भाव समझ गये। उन्होंने कहा—"भाई! क्यों यह अनर्थ कर रहे हो? आत्मघात करना घोर पाप है। इस पाप मे फँसने वाला प्राणी भविष्य मे और अधिक दुःख पाता है दुःखों से मुक्त होने के लिए आत्मघात का मार्ग ग्रहण करना जीवन के लिए विषपान करने के समान और सौन्दर्य का निरीक्षण करने के लिए आँखें फोड़ डालने के समान विपरीत प्रयास है। दुःख अकस्मात पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के उदय के बिना नहीं होते। आत्मा उन कर्मों का उपार्जन करता है। अतः आत्मा के साथ ही कर्मों का बंध होता है तुम यह जानते हो, कि शरीर और आत्मा एक नहीं हैं। शरीर का परित्याग कर देने पर भी पाप कर्म उपार्जन करने वाला आत्मा तो बना हुआ ही है। जब आत्मा विद्यमान रहेगा तो उसके साथ अशुभ कर्म भी विद्यमान रहेंगे। शरीर का त्याग करने पर आत्मा जिस नवीन पर्याय को धारण करेगा उसी पर्याय मे कर्म

भी उसके साथ बंधे रहेंगे। ऐसी स्थिति में शरीर का त्याग कर देने से कुछ भी लाभ होना संभव नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है, कि जिस शूरता के साथ वह कर्मों का उपार्जन करता है, उसी शूरता के साथ उनके विपाक को भोग करे। अशुभ कर्मों से पिंड छुड़ाने का यही उपाय है। इस उपाय का आलम्बन न करके शरीर का अंत कर देने का विचार करना कायरता है, अविवेक है। इसके अतिरिक्त आत्मघात-जन्य पाप की भयंकरता का भी विचार करना चाहिए। पहले के अशुभ कर्म आत्मघात से नष्ट नहीं हो सकते और नवीन दारुण कर्मों का बंध हो जाता है। परिणाम में कष्टों की मात्रा अत्यधिक बढ़ती है। एक बात और भी है। अनुकूल परिस्थिति में मनुष्य की शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती है। उन शक्तियों का विकास न होकर ह्रास होता है। प्रतिकूल परिस्थिति में आत्मिक शक्तियों के विकास की पर्याप्त गुञ्जाइश रहती है। दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुष प्रतिकूलताओं की चट्टानों से टकरा कर कभी निराश नहीं होते। वे अपने लक्ष्य की ओर अधिकाधिक अग्रसर होते जाते है और अपनी अमोघ संकल्प-शक्ति के द्वारा अन्त में समस्त विघ्नों, बाधाओं एवं प्रतिकूलताओं को चूर्ण-विचूर्ण कर डालते हैं। अतएव प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होना चाहिए बल्कि अपनी शक्तियों को संवर्धित करने के लिए उनका स्वागत करना चाहिए और सच्चे योद्धा की भाँति उन का सामना करना चाहिए। अतएव तुम यह घोर पाप न करो। नमोकार मंत्र. संसार के समस्त मंत्रों में उत्तम और कल्याणकारी है। उसका जाप करो। विषम दृष्टि का परित्याग करो।'

ब्राह्मण ने मुनिराज का उपदेश प्रेम से सुना, समझा और स्वीकार किया। उसने महामंत्र को तत्काल सीख लिया और सदा

उसका जाप करने लगा।

कुछ दिन व्यतीत हो जाने के बाद दत्त ब्राह्मण फिर उन्हीं मुनिराज की सेवा में उपस्थित हुआ। दत्त जिस समय मुनिराज के पास पहुंचा उस समय वहां एक पुष्कली नाम के श्रावक बैठे थे। श्रावक ने दत्त ब्राह्मण की ओर देखकर मुनि से पूछा— 'आर्य! यह ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर किस योनि में जन्म लेगा?

मुनिराज ने कहा—श्रमणोपासक! इसने पहले ही आयु का बंध कर लिया है। उस बंध के अनुसार यह मृत्यु के पश्चात् राजपुर में मुर्गे के रूप में जन्म ग्रहण करेगा। आयु बंध होने पर कोई कितना ही प्रयत्न करे, कैसी भी कठोर साधना के पथ को ग्रहण करे, पर वह बंध छूट नहीं सकता। अतएव विवेकशील पुरुषों को चाहिए कि वे सदा ही अपने अध्यवसायों को शुद्ध रक्खे। सम्पूर्ण आयु के दो भाग समाप्त होने पर जब तीसरा भाग अवशिष्ट रहता है तब आयु का नवीन बंध होता है। कारणों की अपूर्णता होने से यदि उस समय आयु का बंध न हो तो अवशिष्ट आयु के दो भाग समाप्त होने पर तीसरा भाग शेष रहने पर आयु का बंध होता है। यदि उस समय भी कारणों की विकलता से बंध न हुआ तो फिर उसी प्रकार तीसरे भाग में आयु बंध होता है। कभी-कभी मृत्युकाल में बंध होता। इससे यह जान पड़ता है कि आयुबंध के समय को छद्मस्थ जीव जान नहीं सकता। संभव है थोड़ी देर के लिए परिणामों में मलिनता उत्पन्न हो और उसी समय नवीन आयु बंध जाय। अतः क्षणभर भी मनुष्य को असावधान न रहकर निरन्तर प्रशस्त परिणामों में वर्तना चाहिए। कर्मों का एकच्छत्र साम्राज्य है। सारा संसार इनके वशीभूत

हो रहा है। कर्मों के आगे राजा-रंक, सधन-निर्धन, सबल-निर्बल किसी की नहीं चलती। कर्म देखते-देखते राजा को रंक, सधन को निर्धन और सबल को निर्बल बना डालते हैं। परन्तु आत्मा की शक्ति कर्मों से कम नहीं है। वह अपने स्वरूप को समझे, अपनी शक्तियों को पहचाने और आत्मविकास के लिए उग्र प्रयत्न करे तो अन्त में उसी की विजय होती है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव जैसे त्रिलोकवंद्य महापुरुष को कर्मों के वश होकर एक वर्ष तक आहार न मिला। दाता थे, दान करने योग्य द्रव्य था, दाताओं की प्रभु पर असीम भक्ति थी, फिर भी उन्हें निराहार रहना पड़ा। यह कर्म का ही प्रताप था। अन्यथा जो लोग आदिनाथ के सामने हीरा-मोती आदि रत्न, हाथी-घोड़े आदि सवारियां, उत्तमोत्तम वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएँ लेकर सामने आते थे, उन्हें भेट देकर कृतार्थ होना चाहते थे, वही दाता क्या उन्हें आहार नहीं दे सकते थे? पर पूर्वोपार्जित कर्म का उदय होने से दाताओं को निरवद्य मुनि-जन-भोग्य आहार देने की कल्पना ही नहीं आती थी। व ऐसे उत्तम और महान् पुरुष को भोजन जैसी सामान्य वस्तु देने से उनका अपमान समझते थे। जब प्रभु आदिनाथ ने कर्मों का कर्ज चुका दिया तब उन्हें आहार की प्राप्ति हुई।

जब परम पुरुष आदिनाथ जैसों को कर्म का फल भोगना पड़ा तो औरों की क्या गिनती है? दूसरे फल-भोग के बिना कैसे छूट सकते हैं? दत्तजी ने भी कर्म-बंध कर लिया है। वह बंध अब बिना भोगे मिट नहीं सकता। वह तो भोग लेने पर ही छूटेगा। पर उन्होंने महामंत्र का जाप करके जो पुण्य उपार्जन किया है उसका फल भी मिट नहीं सकता। मुर्गा पर्याय का

परित्याग करने पर यह उसी राजपुरी में ईश्वर नामक राजा होंगे। राजा की अवस्था में इन्हें भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होगा। भगवान् का पवित्र दर्शन होने से इन्हें जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त होगा और उससे दत्तजी अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्त को जान लेंगे।"

राजा ईश्वर कहने लगे—'मंत्री जी ! अब से तीसरे भव पहले मुनिराज ने अपने दिव्य ज्ञान में देखकर जिस भविष्य का कथन किया था, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ है। आज मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो गया है। सच है—निर्ग्रंथ मुनिराजों का कथन कभी मिथ्या नही हो सकता। वे परम ज्ञानी, परम संयमी और परम हितैषी होते है। धन्य है इन महा-पुरुषों को जो ससार के उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों को तिनके की भांति त्याग कर इस साधना को अंगीकार करते है। स्याद्वादमय धर्म भी धन्य है जो वस्तु-स्वरूप को यथार्थ निरूपण करके जनता की जिज्ञासा का उपशमन करता है, कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करता है और अन्त मे समस्त दुखो से छुड़ाकर सर्व-श्रेष्ठ सिद्धपद पर आसीन करता है।"

इस प्रकार अपने आन्तरिक उद्गार निकाल कर राजा ने प्रभु को प्रसन्न और भक्तियुक्त चित्त से वन्दना की और अपने महल मे लौट आया।

उपसर्ग

परम-पुरुप पार्श्वनाथ राजपुर से विहार कर आगे पधारे। उपनगर के बाहर तापसों का एक आश्रम था। जब भगवान् आश्रम के पास होकर पधार रहे थे तब सूर्यास्त होने लगा।

भगवान् एक कुएँ के सन्निकट वट-वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर खड़े रह गये। भगवान् का अनेक जन्मों का विरोधी मेघमाली देव वहां आ पहुँचा। भगवान् को देखकर उसे प्रचंड क्रोध आया। उसने विकराल हाथी का रूप बनाया और भूतल को विकंपित करता हुआ, दिशाओं को वधिर करने वाली चिंघाडने की ध्वनि करता हुआ प्रभु की ओर लपका। उसने प्रभु को अपनी सूंड में पकड लिया। अनेक प्रकार के कष्ट दिये पर भगवान् सुमेरु की तरह अचल बने रहे। उन्होंने भौतिक शरीर के प्रति ममत्व का भाव त्याग दिया था। शरीर में रहते हुए भी वे शरीर से मुक्त थे। जैसे मकान के ऊपर चोट होने पर भी मकान में रहने वाला व्यक्ति वेदना का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह मकान को अपने से भिन्न मानता है उसी प्रकार जो योगी शरीर को आत्मा का निवासस्थान मात्र समझते हैं, उससे ममता हटा लेते हैं, उन्हें भी शरीर की वेदनाएं वैसी नहीं जान पडतीं जैसे इतर प्राणियों को जान पड़ती हैं। इसी कारण भगवान पार्श्वनाथ को मानो वेदनाओं ने स्पर्श भी नहीं किया। वे अपने ध्यान में मग्न रहे। देव पराजित हो गया।

पराजय से व्यक्ति या तो दीनता धारण करता है या उसका क्रोध और भी प्रचंड हो जाता है। देव पराजित होकर और अधिक प्रचंड हुआ। उसने सिंह, व्याघ्र और चीते के रूप धारण करके दहाड मारी। भगवान को भयभीत करने का प्रयत्न किया, कष्ट दिये, पर उसकी दाल न गली। अन्त में उसे निष्फलता मिली। पर देव की दुष्टता इतनी ओछी न थी कि वह शीघ्र समाप्त हो जाती। वह और ज्यादा झल्लाया, खिसियाया। उसने अबकी बार अत्यन्त भयंकर भुजंग का रूप बनाया। साथ ही

बड़े-बड़े जंगली बिच्छुओं के अनेक रूप बनाये। सबने मिल कर एक साथ प्रभु पर आक्रमण किया। देव ने समझा-अबकी बार पार्श्वनाथ अवश्य भयभीत हो जाएंगे और घोर वेदना का अनुभव करेंगे। पर करोड़ों देवों की शक्ति से भी अधिक शक्ति के धारक भगवान् के लिए देव द्वारा दिये जाने वाले कष्ट बालक का खिलवाड़ था। उनके ऊपर देवता के किसी भी आक्रमण का प्रभाव नही हुआ। वे यथापूर्व अवस्थित रहे। उनके चेहरे पर वही अपूर्व शान्ति और सौम्यता क्रीडा कर रही थी। उनकी ध्यान-मुद्रा जैसी की तैसी थी।

धरणेन्द्र जैसे इन्द्र और देवगण भगवान् के क्रीत दास थे। वे सदा भगवान् के इशारे पर नाचने को उद्यत रहते थे। भगवान् यदि इच्छा करते तो तत्काल ही इन्द्र उनकी सहायता के लिए दौड़ा आता। पर नही, तीर्थकर दूसरों के पुरुपार्थ का आश्रय नही लेते। वे आदर्श महापुरुप है। मर्यादा पुरुपोत्तम है। वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही विजय प्राप्त करते है। वे अपने लोकोत्तर पुरुपार्थ द्वारा ही इतर प्राणियों के समक्ष महान आदर्श उपस्थित करते है। आत्मिक विजय दूसरे की सहायता से मिलती भी नही है।

सर्प और बिच्छू रह-रह कर बार-बार अपनी तीखी दाढ़ों से तथा डंकों से भगवान् पर प्रहार करने लगे। उन्होंने अपनी समझ मे कुछ भी कसर न उठा रखी। पर उन्हे जान पड़ा जैसे हम चट्टान से टकरा रहे है। हमारे प्रयास सर्वथा व्यर्थ जा रहे है। इस प्रकार भगवान् की निश्चलता देखकर देव भी चकित रह गया। उसने ऐसे वज्र-हृदय पुरुप की कल्पना भी न
वह सोचने लगा-आखिर यह क्या रह

में इतना सामर्थ्य हो सकता है? देव को पराजित कर देने वाला मनुष्य भी क्या इस भूमि पर होना संभव है? ऐसा न हो तो क्या कारण है कि यह योगी पर्वत की भाँति उन्नत भाल किये खड़ा है। इतनी वेदनाओं का इस पर अणु बराबर भी प्रभाव नहीं पड़ा। देखूँ, एक बार और प्रयास करूँ। इस प्रकार विचार कर उसने भगवान् को पानी मे बहा देने का विचार किया। वह मेघमाली तो था ही, आकाश सजल मेघों से मढ़ गया। बिजली गड़गड़ाने लगी। मूसलधार वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर मे इधर-उधर चारों ओर पानी-ही-पानी दिखाई देने लगा। जितने जलाशय थे जल से लबालब भर गये। खेत सरोवर बन गये। कूपों के ऊपर होकर पानी बहने लगा। भगवान् के घुटनो तक पानी आ गया। मगर वे अकम्प थे। थोड़ा समय और व्यतीत हुआ। उनकी कमर पानी मे डूब गई। पानी बरसना बन्द न हुआ। ऐसा मालूम होने लगा मानों आकाश फट पडा हो। अब भगवान् के वक्षस्थल तक पानी आ पहुँचा था। थोडी ही देर बाद उनके मुह तक पानी पहुँच गया। फिर भी भगवान् की ध्यान मुद्रा ज्यो-की-त्यों अविचल थी। भगवान, मेघमाली देव द्वारा होनेवाले इन भयकर उपसर्गों को सहन कर रहे थे। उनके मन मे प्रतिहिंसा का भाव रचमात्र भी उदित नहीं हुआ। वे पूर्ववत् समता रूपी अमृत के सरोवर मे आकण्ठ निमग्न थे। वैषम्य भाव उनके पास भी न फटकने पाता था।

भगवान् के मुख तक पानी आ पहुँचा तब पूर्व परिचित धरणेन्द्र का आसन कॉप उठा। आसन कांपने से उपयोग लगाने पर उसे मालूम हुआ कि मेरे परमोपकारी परम कृपालु भगवान्

पार्श्वनाथ पर उपसर्गों की घनघोर घटा घहरा रही है। यह ज्ञात होते ही वह पद्मावती के साथ स्वर्ग से रवाना हुआ और भागा-भागा प्रभु के पास पहुँचा। उसने तत्काल ही भगवान् के पैरों तले एक सुन्दर कमल बनाया और ऊपर सर्प के फनों जैसा छत्र बना दिया। इस प्रकार भगवान् जल के उपसर्ग से मुक्त होगये। फिर भी भगवान् मौनावलम्बन किये वीतराग भाव मे तल्लीन रहे। न तो मेघमाली के कर्तव्य पर उन्हें रोष हुआ और न धरणेन्द्र के कर्तव्य पर तोष ही हुआ। वे अपने समभाव की आराधना मे ही निमग्न रहे। पर कोई भी सच्चा भक्त अपने भगवान् के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को देख-सुनकर शान्त नही रह सकता। धरणेन्द्र से भी न रहा गया। उसने मेघमाली को बुरी तरह फटकारा। मेघमाली देव पहले ही अपनी घोर पराजय से लज्जित हो रहा था। ऊपर से धरणेन्द्र की डाट पड़ी तो बुरी तरह सकपकाया। धरणेन्द्र ने कहा—"दुरात्मन! तुझे मालूम है यह महापुरुष कौन है? तू अपनी दुष्टता प्रदर्शित करके उन्हे अपने पथ से डिगाना चाहता है! खद्योत क्या कभी दिवाकर की प्रचंड किरणों को पराजित करने में समर्थ हो सकता है? आध्यात्मिक शक्ति विश्व में सर्वोत्कृष्ट और अजेय है। उसके सामने कभी कोई न टिक सका है और न टिक सकेगा। तूने अपनी पाशविक शक्तियो का प्रदर्शन करके पापोपार्जन के अतिरिक्त और क्या फल पाया? भगवान् को पथभ्रष्ट करने का तेरा प्रयास वैसा ही है जैसे कोई अपने मस्तक की चोटों से सुरगिरि को भेद डालने का प्रयास करे, बौना पर्वत को लांघ जाने की हास्यास्पद चेष्टा करे और टोटा-लंगड़ा समुद्र को भुजाओ से पार करने का मनोरथ करे।

भगवान् अजेय हैं। वे विश्ववंद्य हैं। देव और देवेन्द्र उनके क्रीत दास हैं। वे अनन्त शक्तियों के भंडार हैं। क्या तुझे ज्ञात नहीं कि तू पूर्व जन्म का कमठ नामक तापस है, मैं तेरी धूनी के लक्कड़ में जलने वाला सर्प हूं और यह महाप्रभु तुझे प्रतिबोध देने वाले और मुझे नमोकार मंत्र का श्रवण कराने वाले वही पार्श्व हैं ? ऐसे महान उपकारी महापुरुष के प्रति तेरी यह जघन्य भावना और यह निन्द्य व्यवहार! खबरदार, भविष्य में ऐसा कुकृत्य किया तो पूरी खबर ली जायगी।'

धरणेन्द्र का कथन सुनते ही मेघमाली मानो लज्जा से गड़ गया। उसमें बोलने का सामर्थ्य न रहा। उसने सारी माया तत्काल समेट ली और प्रभु के चरण-कमलों पर जा गिरा। वह गिड़गिड़ा कर बोला—"नाथ! आप क्षमा के सागर हैं। वीतरागता और साम्य-भाव के भण्डार हैं। पतितों को पावन करने वाले परम दयालु हैं। मुझे क्षमा प्रदान कीजिए। मैं बड़ा पापी हूँ। मैंने अज्ञान और कषाय के वश होकर आपके प्रति जो दुर्व्यवहार किया है उससे मैं पश्चाताप की अग्नि में जल रहा हूँ।"

वास्तव में मेघमाली की क्षमा-प्रार्थना व्यर्थ थी। इसलिए नहीं कि उसे क्षमा नहीं मिली। बल्कि इसलिए कि भगवान् के अन्तःकरण में द्वेष का लेश भी न था। वे पहले-से ही उस पर क्षमा-भाव धारण किये हुए थे। भगवान् के हृदय-पटल पर यह भाव सदा अंकित रहते थे:—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ ण केणई॥

अन्त में मेघमाली क्षमा-याचना के पश्चात् अपने स्थान

पर चला गया। भगवान् के उपसर्ग का अन्त हो गया जानकर धरणेन्द्र भी पद्मावती के साथ अपनी जगह चला गया। भगवान् ने वह रात्रि ध्यानावस्था मे वही समाप्त की।

केवलज्ञान

सूर्योदय होने पर भगवान् ने वाराणसी नगरी की ओर प्रस्थान किया। वाराणसी मे पहुँच कर नगरी के बाहर एक उद्यान मे विराजमान हुए। तेरासी दिन प्रभु ने छद्मस्थ अवस्था मे निर्गमन किये। चौरासीवा दिन आरम्भ हुआ। चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन और विशाखा नक्षत्र था। भगवान् ने अत्यंत उज्वल ध्यान धारण किया। उस ध्यान के प्रभाव से ससार रूपी वृक्ष के बीज, संसार के जीवो को नाना गतियो मे भ्रमण कराने वाले और दुर्जय मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो गया। मोह रूपी महामल्ल को पछाडते ही अन्तर्मुहूर्त के भीतर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों की त्रिपुटी का विनाश हो गया। इस प्रकार चारों घन घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से प्रभु मे अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त शक्ति का आविर्भाव हो गया। अब तक भगवान चार क्षायोपशामिक ज्ञानो के धारी थे। अब सब ज्ञान केवल ज्ञान के रूप मे परिणत हो गये। अत. एक केवल ज्ञान ही शेष रह गया। इसी प्रकार समस्त क्षायोपशमिक दर्शन केवल दर्शन के रूप मे परिणित हो गये। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, और मति श्रुत आदि ज्ञान उस ज्ञान गुण की पर्याये है। केवल ज्ञान रूप पर्याय का आविर्भाव होने से दूसरी पर्यायो का विनाश होगया। ज्ञान सम्बन्धी विवरण इस प्रकार है —

पांच ज्ञान

ज्ञान आत्मा का एक धर्म है। वह धर्म आत्मा की तरह ही अनादि और अनन्त है। यद्यपि मोहनीय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशम के कारण ज्ञान गुण विभिन्न पर्यायो मे परिणत होता है फिर भी वह अपने मूल स्वभाव से कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है।

आत्मा जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से युक्त होता है तब उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान मे सत्-असत और हेयोपादेय की विवेचना करने का सामर्थ्य नही होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही आत्मा की दृष्टि निर्मल हो जाती है और उस समय ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान मे अपूर्व शक्ति है। मिथ्याज्ञान के द्वारा कर्म-बंधन मे जकड़ा हुआ आत्मा सम्यग्ज्ञान द्वारा ही मुक्त होता है। करोड़ो वर्ष तपस्या करके अज्ञानी जीव जो कर्म क्षीण नहीं कर पाता उन कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञानी जीव क्षण भर मे कर डालता है। आगम मे कहा है—

अन्नाणी किं काही? किं वा नाही छेयपावगं?

अर्थात् अज्ञानी जीव बेचारा क्या र सकता है? वह हिता-हित को क्या समझ सकता है? नहीं।

पदार्थ को सम्यक् रूप से यथार्थ जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के आगमो मे पांच भेद किये गये है—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन. पर्ययज्ञान

(५) केवलज्ञान। यहाँ इन पाँचो ज्ञानों का संक्षिप्त स्वरूप लिख देना उचित होगा।

मतिज्ञान

इन्द्रियो और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके मूलतः चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा। दर्शनोपयोग के बाद, ज्ञानोपयोग मे सब से पहले, मनुष्यत्व आदि सामान्य का ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह के बाद संशय होता है। उस संशय को हटाते हुए जो कुछ विशेष ज्ञान होता है उसे ईहा ज्ञान होता है। जैसे—'यह महाराष्ट्रीय मनुष्य होना चाहिए' ईहा के पश्चात् आत्मा इस संबध मे और अधिक प्रगति करता है। उस समय वस्तु का पूरा निश्चय हो जाता है। जैसे—'यह महाराष्ट्रीय मनुष्य ही है।' इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय या अपाय कहते हैं।

जब हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उसका एक प्रकार का चित्र-सा हमारे हृदय-पट पर अंकित हो जाता है। कोई चित्र धुंधला होता है और कोई स्पष्ट होता है। इस चित्र का अंकित हो जाना ही धारणा है। जो चित्र जितना अधिक गाढ़ा होता है उसकी धारणा भी उतनी ही प्रगाढ़ होती है।

धारणा से ही स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है। हम अनुभव करते है कि कोई-कोई बहुत पुरानी घटना हमे ज्यो-की-त्यो याद रहती है और कोई-कोई ताजी घटना भी विस्मृति के अनंत सागर में विलीन हो जाती है। इसका कारण धारणा की प्रगाढ़ता और अगाढ़ता ही है। जो धारणा खूब प्रगाढ़ हुई हो उसके द्वारा अधिक समय व्यतीत हो चुकने पर भी स्मृति उत्पन्न हो जाती है

और जो धारणा दृढ़ न हुई हो वह स्मृति को उत्पन्न करने मे असमर्थ रहती है। पूर्वजन्म के स्मरण की घटनाएँ इस समय भी सुनी जाती है और पूर्वकाल मे भी होती थीं। कई विशिष्टतर धारणाशाली जीवो को अनेक पूर्वजन्मो का स्मरण हो जाता है। यह सब मतिज्ञान है।

पूर्वोक्त अवग्रह आदि चारों प्रकार के मतिज्ञान पांचो इंद्रियों से और मन से उत्पन्न होते है। अवग्रह कभी स्पर्शन-इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, कभी रसना-इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, कभी घ्राण से, कभी नेत्र से और कभी श्रोत्र से होता है तो कभी मन से भी होता है। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा भी सभी इन्द्रियो और मन से उत्पन्न होते है। अतएव इन चारो के कुल ६×४=२४ भेद होते है।

यह चौबीसो प्रकार का मतिज्ञान, प्रत्येक बारह प्रकार के पदार्थो को जानता है। जैसे—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव। इन बारह पदार्थों के कारण प्रत्येक मतिज्ञान के बारह-बारह भेद हो जाते है और चौबीसो के मिलाकर २४×१२=२८८ भेद होते है।

औत्पातिकी, वैनयिकी, पारिणामिकी और कार्मिकी, यह चार प्रकार की शास्त्रों मे वर्णित बुद्धियां भी मतिज्ञान का ही रूप हैं। मतिज्ञान के भेदो में इन्हें भी सम्मिलित कर दिया जाय तो ३४० भेद हो जाते है।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान उत्पन्न हो चुकने के बाद जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान, शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य संबंध को मुख्य करके शब्द से संबंध वस्तु को ग्रहण करता है। श्रुतज्ञान के विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक भेद है। मुख्य रूप से उसके दो भेद है—(१) अङ्गप्रविष्ट और (२) अङ्गबाह्य। तीर्थंकर भगवान द्वारा साक्षात उपदिष्ट आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि बारह अगो को अथवा उनसे होने वाले अर्थबोध को अंग-प्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं और द्वादशांग के आधार पर निर्मित दशवैकालिक, नन्दी आदि सूत्रों तथा विभिन्न ग्रंथों से जो अर्थ-बोध होता है वह अंगबाह्य श्रुत है। श्रुतज्ञान के एक अपेक्षा से चौदह भेद भी है और बीस भेद भी है। विस्तार-भय से उनका उल्लेख यहां नही किया जाता है।

जैन सिद्धान्त मे मुख्य स्थान रखने वाला नयवाद श्रुतज्ञान का ही एक अंग है। श्रुतज्ञान अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विषय करता है और नय उसके एक अंश-धर्म को ग्रहण करते है। आंशिक ग्रहण ही लोक व्यवहार मे उपयोगी होता है। नय ही अनेकान्त के प्राण है। जैनदर्शन मे अनेक स्थलों पर नयो की और अनेकान्तवाद की विशद विवेचना की गई है।

जब कोई व्यक्ति निर्बल हो जाता है तो वह बिना सहारे

चल-फिर नहीं सकता। उसके लिए लकड़ी आदि सहारे की आवश्यकता होती है। किन्तु जब वह अनुकूल उपचार द्वारा खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर लेता है तो उसे सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार जो आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों के तीव्र उदय से अत्यन्त हीन-सत्व हो जाता है वह ज्ञान-स्वभाव होने पर भी विना दूसरों की सहायता के वस्तु को नहीं जान पाता। अतएव उसे इन्द्रियों की और मन की सहायता लेनी पड़ती है। यही कारण है कि पूर्वोक्त मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय-मन-सापेक्ष हैं और इसी से उन्हें परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान के समय आत्मा में ज्ञान-शक्ति का अधिक विकास हो जाता है अतः इनमें किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं होती। यह तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं अर्थात् साक्षात् आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का है—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान विकल और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। विकल प्रत्यक्ष समस्त वस्तुओं को नहीं जान सकते किन्तु सकल प्रत्यक्ष अर्थात् केवलज्ञान तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों को एक ही साथ हस्तामलकवत् स्पष्ट रूप से जानता है। तीनों का स्वरूप यह है—

अवधि ज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के विना सिर्फ रूपी पदार्थों को मर्यादा के साथ जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसके दो भेद हैं—(१) भवप्रत्यय अवधिज्ञान और (२) क्षयोप-

शमप्रत्यय अवधिज्ञान। देवभव और नरकभव की मुख्यता से जो उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। यह ज्ञान देवों और नारकियों को होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान मे भी क्षयोपशम का होना अनिवार्य है तथापि उक्त दो भवों के कारण वहाँ क्षयोपशम हो ही जाता है अतः उसे भवप्रत्यय कह दिया गया है। मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों को विशिष्ट क्षयोपशम होने पर जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है उसे क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान यों तो अनेक प्रकार का है किन्तु एक अपेक्षा से छह भेद बतलाये गये हैं—(१) आनुगामिक (२) अनानुगामिक (३) वर्द्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपातिक (६) अप्रतिपातिक। जैसे मनुष्य के नेत्र मनुष्य के साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते है उसी प्रकार जो अवधिज्ञान ज्ञानी के साथ दूसरे स्थान मे भी बना रहता है वह आनुगामिक है। इसके विपरीत जो अवधिज्ञान सांकलों से बंधे हुए दीपक के समान एक ही स्थान पर रहता है और ज्ञाता यदि दूसरी जगह चला जाय तो उसके साथ नहीं जाता वह अनानुगामिक कहलाता है। जैसे अधिक-अधिक ईंधन डालने से अग्नि की ज्वाला उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है उसी प्रकार आत्मा के परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि होते रहने के कारण जो अवधिज्ञान उत्तरोत्तर वर्द्धिगत होता जाता है वह वर्धमान कहलाता है। इसके विपरीत पर्याप्त ईंधन के अभाव मे घटती जाने वाली आग की ज्वाला के समान जो ज्ञान आत्मा के मलिन परिणामों के कारण घटता चला जाता है वह हीयमान कहलाता है। कोई-कोई अवधिज्ञान क्षयोपशम के अनुसार कुछ समय तक ठहर कर दीपक के समान नष्ट हो

जाता है। ऐसा अवधिज्ञान प्रतिपातिक कहलाता है। हीयमान अवधिज्ञान का धीरे-धीरे क्रमशः ह्रास होता है और प्रतिपाति एक साथ ही समूल नष्ट हो जाता है। यही इन दोनों में अन्तर है। अप्रतिपाति अवधिज्ञान वह है जो केवलज्ञान की प्राप्ति होने से पहले कदापि विनष्ट नही होता है।

अवधिज्ञानी द्रव्य से जघन्य कम-से-कम अनन्त रूपी द्रव्यो को जानता है और उत्कृष्ट रूप से अधिक-से-अधिक समस्त रूपी द्रव्यों को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग को और उत्कृष्ट रूप से अलोक मे लोक प्रमाण असंख्यात खंडों को जानने मे समर्थ होता। काल की अपेक्षा आवली के असंख्यातवे भाग को जानता है और उत्कृष्ट रूप से असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तथा अतीत और अनागत काल को जानता है। भाव की अपेक्षा जघन्य अनन्त भावों पर्यायो को और उत्कृष्ट रूप से अनन्त भावो को जानता है। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि अवधिज्ञान के द्वारा एक वस्तु की संख्यात या असंख्यात पर्यायो का ही ज्ञान होता है। अनन्त पर्यायों को जानने का कथन अनेक द्रव्यों की अपेक्षा किया गया है। भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त भाव का जानना बतलाया गया है किन्तु अनन्त के भी अनन्त भेद होते है अत. जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे अनन्त गुणा अधिक भाव-ज्ञान होता है।

मनःपर्याय ज्ञान

दूसरे के मन की बात जिस ज्ञान के द्वारा जानी जा सकती है वह मन.पर्याय ज्ञान कहलाता है। जब कोई संज्ञी जीव

किसी वस्तु का विचार करता है तब उसके हृदय पर वस्तु के चिन्तन के अनुसार तरह-तरह की आकृतियां पर्यायें उत्पन्न होती हैं। मनःपर्याय ज्ञानी उन आकृतियों को जान लेता है और उन्हीं से उसे मूल वस्तु का अनुमान हो जाता है। यह मनःपर्याय ज्ञान भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह अवधि-ज्ञान की भांति चारों गतियों के जीवों को नहीं हो सकता, केवल मनुष्यों को होता है। मनुष्यों में भी वही महात्मा इसे पाते हैं जिनका चारित्र विशुद्धतर होता है जो अप्रमत्त संयमी होते हैं और जिन्हें आमर्षौषधि आदि ऋद्धियां प्राप्ति हो जाती है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब मिथ्यादृष्टि को होते हैं तब वे भी संसर्ग-दोष से दूषित हो जाने के कारण मिथ्या-ज्ञान बन जाते हैं। किन्तु मनः पर्याय ज्ञान मिथ्यादृष्टि को नहीं होता अतः वह कदापि मिथ्याज्ञान नहीं होता।

मनः पर्याय ज्ञान के दो भेद हैं—(१) ऋजुमति और (२) विपुलमति। दूसरे के मन की सरल बात को जो जानता है वह ऋजुमति और वक्र अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी बात को भी जो ज्ञान जान लेता है वह विपुलमति कहलाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनः पर्याय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति उत्पन्न होकर नष्ट हो सकता है परन्तु विपुलमति केवलज्ञान की उत्पत्ति होने से पहले नष्ट नहीं होता।

केवल ज्ञान

आत्मा जब विशिष्टतम पुरुषार्थ के द्वारा अनादि काल से लगे हुए ज्ञानावरण आदि कर्म-रिपुओं का समूल उन्मूलन कर डालता है तब वह अपने वास्तविक स्वरूप की निर्मलता प्राप्त

करता है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। असली स्वरूप की प्राप्ति होने से पहले कर्म के उदय के कारण जो ज्ञान गुण विकृत हो रहा था वह कर्मों के अभाव मे विशुद्ध हो जाता है। अब ज्ञान मे कोई बाधक नहीं रहता अत आत्मा मे अज्ञान का लेश-मात्र भी नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था मे आत्मा सर्व कालों के, समस्त स्थानों के, समस्त पदार्थों को परिपूर्ण रूप से जानता है। इसी ज्ञान को केवलज्ञान कहते है। केवलज्ञानी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते है। केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर मतिज्ञान आदि का सद्भाव नही रहता। वह अकेला ही रहता है और इसीसे वह केवलज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान मे वस्तुत. किसी प्रकार की तर-तमता नहीं है। न वह अर्हन्त भगवान् को कम होता है, न सिद्ध भगवान् को अधिक होता है। ज्ञान मे न्यूनाधिकता ज्ञानावरण कर्म के कारण होती है। जहां ज्ञानावरण का सर्वथा उच्छेद हो गया है वहा तज्जन्य तर-तमता होना असंभव है। यद्यपि नन्दी आदि शास्त्रो मे केवलज्ञान के भी भेद बतलाये गये है किन्तु वे भेद केवलज्ञान के स्वरूप के भेद नही है और न उन भेदों से उसकी न्यूनाधिकता ही सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ—भवस्थ केवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान को लीजिए। इन दो भेदों से केवलज्ञान मे किसी प्रकार की न्यूनता या अधिकता न प्रतीत होती है और न कहीं आगम मे उसका प्रतिपादन ही किया गया है। यह भेद तो सिर्फ केवलज्ञान के स्वामी मे भेद प्रदर्शित करते है और वह भेद ज्ञान कृत नहीं किन्तु अन्य कारणकृत है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि भवस्थकेवली भी केवल ज्ञानवान् होते है और सिद्ध भगवान् भी केवलज्ञानवान् होते है। इसी प्रकार

सयोगी भवस्थ केवली भी केवल ज्ञानशाली होते हैं और अयोगी भवस्थ केवली भी केवल ज्ञानशाली होते हैं। इन भेदों का उल्लेख करके केवलियों में भी न्यूनाधिक ज्ञान सिद्ध करने की चेष्टा निष्फल और असंगत है।

सर्वज्ञता

आजकल सर्वज्ञता के विषय में तरह-तरह के भ्रम फैल रहे हैं। किसी-किसी का कहना है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ हो ही नही सकता। संक्षेप मे इस पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा।

जिन्होंने आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया उनकी बात जाने दीजिए। जो लोग आत्मा को स्वीकार करते है उन्हें यह भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा ज्ञान-स्वभाव वाला है। यदि ज्ञान स्वभाव वाला आत्मा न हो तो फिर यह बोध किसे होता ? यदि कहा जाय कि इन्द्रियां ही पदार्थों को जानती हैं तो स्मरण ज्ञान किस इन्द्रिय से होता है ? स्मरण मे तो किसी भी इन्द्रिय का व्यापार नही होता है। तब यही स्वीकार करना होगा कि इन्द्रियों के अतिरिक्त आत्मा ही ऐसी वस्तु है जो पदार्थों को जानती—समझती है, अतः आत्मा स्वभाव से ज्ञानशील है।

किसी भी वस्तु मे परस्पर विरोधी दो स्वभाव नही रह सकते। बीज में अंकुर को उत्पन्न करने का स्वभाव यदि है तो उसमे अंकुर को न उत्पन्न करने का स्वभाव नही हो सकता। अग्नि मे दाह स्वभाव है तो अदाह स्वभाव नही है। जल स्वभावतः शीतल है तो वह स्वभावतः उष्ण नही हो सकता।

किसी बाह्य उपाधि से वस्तु का स्वरूप भले ही बदल जाय पर वह उसका स्वभाव नही विभाव ही कहलायगा। जैसे जल अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है अतएव यह नही कहा जा सकता कि जल का स्वभाव उष्णता है। वास्तव मे यह उष्णता जल का स्वभाव नही किन्तु विभाव या विकार है जो बाह्य कारण से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जानना यदि आत्मा का स्वभाव है तो 'न जानना' आत्मा का स्वभाव कदापि नहीं हो सकता। 'न जानना' बाह्य कारणों से उत्पन्न होने वाला आत्मा का विकार ही हो सकता। जब आत्मा विकारों से अतीत हो जाता है और अपने वास्तविक 'ज्ञान-स्वभाव' मे प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसमे अज्ञान का रहना असंभव है, क्योंकि विरोधी दो स्वभाव एक वस्तु मे रहते नही है। जब अज्ञान रूप स्वभाव आत्मा मे नही है और सब विकारों का नाश हो गया है तब अज्ञान अत्मा मे नही रह सकता। इस अज्ञान का सर्वथा निराकरण हो जाना—किसी भी वस्तु का अज्ञात न रह जाना ही केवल ज्ञान है और यही सर्वज्ञता है। अतएव जो सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते उन्हे आत्मा को ज्ञानशील भी नही मानना चाहिए जड़ मानना चाहिए और यदि ज्ञानशील मानते है तो सर्वज्ञ भी मानना चाहिए।

वास्तव मे प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। मनुष्य का परिमित मस्तिष्क उन शक्तियों को समझ पावे या न समझ पावे, पर पदार्थ की शक्तियों का नाश नहीं हो सकता। आधुनिक वैज्ञानिक नये-नये अन्वेषणों द्वारा भौतिक पदार्थों के नये नये गुणों की खोज कर रहे हैं। कोई भी वैज्ञानिक यह नही कह सकता कि हम अन्वेषण की चरम सीमा पर जा पहुंचे है। वह

अपने को प्रकृति के सामने शिशु की भांति अबोध समझता है और अपनी नम्रता के कारण ही अन्वेषण का नया मार्ग ढूंढ़ता है। यदि कोई वैज्ञानिक क्षुद्र अहंकार के वशीभूत होकर यह कहदे कि बस, जितना अन्वेषण हो सकता था, हो चुका है। अब आगे कोई गुञ्जाइश नही है। तो ज्ञान के नये स्रोत बंद हो जाएंगे। जब भौतिक पदार्थों की इतनी अधिक खोज भी अबतक न कुछ के बराबर है और भौतिक प्रकृति अब भी अथाह रहस्यों का सागर बनी हुई है तो आध्यात्मिक विषयों का कहना ही क्या है? आध्यात्मिक विषय अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय हैं। उनके रहस्यों का पता लगाने के लिए जिस कठोरतम साधना की आवश्यकता है उसे अंगीकार करने के लिए जो लोग तैयार नही होते फिर भी जो केवल कुतर्कों के बल पर उनके संबन्ध में हलके विधान बनाने में हिचकते नही है वे सचमुच अति साहसी हैं। ज्ञान क्या है? उसमे कितनी और कैसी अद्भुत शक्तियां विद्यमान है? वह विश्व को पूर्ण रूप से जान लेने में क्या समर्थ है? इत्यादि गूढ़ प्रश्न, तीव्र तपश्चर्या पूर्वक योगियों ने सुलझाये है और जबतक कोई उतनी या उससे अधिक साधना न करले तब तक अन्यथा प्रतिपादन करने का अधिकारी नही है। अस्तु,

कई लोगों का यह कहना है कि जीवात्मा से भिन्न एक ईश्वर ही सर्वज्ञ है। कोई भी जीवात्मा सर्वज्ञ नही बन सकता। किन्तु विचार करने से स्पष्ट होता है कि जीवात्मा और परमात्मा मे मौलिक भेद नहीं है। परमात्मा मे जिन गुणो का प्रतिपादन किया जाता है वे सभी गुण अपूर्व रूप से जीवात्मा मे विद्यमान है। जैसे जड़ और चेतन मे मौलिक भेद है अतः दोनो के

समस्त गुणों मे समानता नही है। आत्मा ज्ञानमय और सुख-मय है, जड मे ज्ञान और सुखका सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार यदि परमात्मा और जीवात्मा में मौलिक भेद होता तो परमात्मा के समस्त गुण आंशिक रूप से जीवात्मा मे न होते। किन्तु दोनों के गुण एक हैं अतः दोनों मे मौलिक भेद नही है। जो भेद है वह तो मात्रा का भेद है। परमात्मा मे गुणों का परिपूर्ण विकास हो चुका है और जीवात्मा मे गुण अवतक आच्छादित हो रहे है। आत्मा शनैः शनैः विकाश करता हुआ अपने गुणो के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर लेता है तब वही परमात्मा की कोटि में जा पहुंचता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा मे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनने की शक्ति विद्यमान है।

जो पुण्यशील पुरुष-पुङ्गव आत्म विकास के पथ का अनुसरण करते है उन्हे भगवान् पार्श्वनाथ की भांति ही परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

समवसरण

भगवान् को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तो नर-नारी और देव-देवियोने खूब उत्सव मनाया। उस समय समवसरण की रचना की गई। समवसरण खूब विशाल, सुन्दर और दर्शनीय था। समवसरण के भीतर अशोक वृक्ष के नीचे एक सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुए। उनके मस्तक पर एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा, इस प्रकार तीन छत्र सुशोभित हुए। भामंडल की शोभा अनूठी थी। महेन्द्रध्वजा फडकती हुई भगवान् की अपूर्व कर्म-विजय की सूचना दे रही थी। आकाश मे देव दुन्दभि वजा रहे थे।

समवसरण में मनुष्य, तिर्यञ्च और देव सभी के लिए पृथक्-पृथक् स्थान नियत थे। सब यथास्थान बैठ गये। सब की दृष्टि भगवान् के मुख कमल पर गडी हुई थी। दिव्य प्रभाव के कारण चारों ओर बैठे हुए दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था जैसे भगवान् का मुख उन्ही की ओर हो। साधु साध्वियां और वैमानिक देवियां अग्निकोण मे बैठे थे। भवनपति वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवों की देवियां नैरूत्य कोण मे तिर्यञ्ची और तीनो प्रकार के देव वायव्य कोण में बैठे थे। वैमानिकदेव, मनुष्य, तिर्यंच और स्त्रियां ईशान कोण में थे। इस प्रकार बारह प्रकार की परिषद् समवसरण में उपस्थित थी।

भगवान के समवसरण में सब मनुष्यो को स्थान दिया गया था और वह स्थान भी अलग-अलग नही बल्कि सब को एक ही था। ब्राह्मण आदिको को शूद्रों से पृथक् स्थान नही मिला था। वास्तविक बात यह है कि स्पृश्य-अस्पृश्य की कल्पना धर्म के क्षेत्र मे नही है। किसी समय यह कल्पना व्यावहारिक क्षेत्र मे उत्पन्न होगई और वह धीरे-धीरे बढ़ती गई है। इस कल्पना का आधार जो लोग धर्म बतलाते है वे धर्म के वास्तविक रूप को समझते नही है। अस्पृश्यता एक भाव ही कहा जा सकता और जितने भाव होते है वे सब कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होते हैं या पारिणामिक होते है। अस्पृश्यता यदि वास्तव मे मानी जाय तो वह किस भाव मे अन्तर्गत होगी ? आगम के अनुसार भावो की सख्या नियत है और उसमे अस्पृश्यता का समावेश नहीं हो सकता। कोई भी कर्म जैनागम मे ऐसा नही है, जिसके उदय से जीव अस्पृश्य बन जाता हो। अत अस्पृश्यता औदयिक भाव नही है।

प्रश्न—नीच गोत्र के उदय से जीव अस्पृश्य होता है, अतः अस्पृश्यता औदयिक भावों के अन्तर्गत क्यों न मानी जाय ?

उत्तर—नीच गोत्र का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लेने पर यह प्रश्न नहीं हो सकता। नीच गोत्र लोक मे अप्रतिष्ठित कुलों मे जन्म का कारण होता है, न कि अस्पृश्यता का। यदि नीच गोत्र को अस्पृश्यता का कारण माना जाय तो जिन-जिन के नीच गोत्र का उदय हो उन सबको अस्पृश्य मानना चाहिए। समस्त पशुओ के नीच गोत्र का उदय होता है तो गाय, बैल, घोड़ा, भैस आदि सब पशु अस्पृश्य होने चाहिए। पर उन्हे अस्पृश्य नहीं माना जाता। बड़े-बडे, शौच-धर्म-धारी पशुओं का दूध पीते है, घोड़े पर सवारी करते है, यहां तक कि गाय की पूजा भी की जाती है। तब फिर अस्पृश्यता मनुष्यो तक ही क्यो परिमित है ?

अस्पृश्यता इसी प्रकार किसी कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से भी नहीं उत्पन्न होती। पारिणामिक भाव सब नित्य होते है। अस्पृश्यता को पारिणामिक भाव के अन्तर्गत मानी जाय तो वह भी नित्य होगी। पर वह नित्य नही है। एक अस्पृश्य गिना जाने वाला चांडाल उत्तर जन्म में ब्राह्मण बन कर स्पृश्य हो जाता है और स्पृश्य ब्राह्मण चांडाल होकर अस्पृश्य कहलाने लगता है। इस कथन से यह भली भाति स्पष्ट हो जाता है, कि धर्म मे जातिगत भेद को कोई स्थान नहीं है। अनेक महात्मा चाडाल जाति से भी हुए है। वे उसी प्रकार वन्दनीय है जैसे अन्य जातीय महात्मा। जाति का अहंकार करना सम्यक्त्व का एक मल है। जिसमे जाति संबधी अभिमान होता है उसका सम्यक्त्व कलंकित हो जाता है। भगवान् तीर्थंकर त्रिलोक-त्राता और विश्वोपकारी है। उनकी धर्मोपदेश

सभा मे भला मनुष्य-मात्र को क्यों न स्थान प्राप्त होता ?

समवसरण की रचना और नर-नारी तथा देव-देवियों के आगमन का दृश्य देखकर उद्यानपाल चकित रह गया। वह भागा-भागा महाराज अश्वसेन के समीप पहुँचा और प्रभु के आगमन का, समवसरण की रचना का तथा श्रोताओं के दल के दल का समग्र वृत्तान्त सुनाया। उद्यानपाल के मुख से यह कल्याणकारी संवाद सुन कर राजा के अन्तःकरण मे आनन्द का महानद उमड़ पड़ा। उसने मुकुट के अतिरिक्त समस्त आभूषण अपने शरीर से उतार कर उद्यानपाल को शुभ संवाद सुनाने के उपलक्ष मे भेंट कर दिये। उसी समय राजा ने अन्तःपुर मे जाकर वामा देवी को यह सुखद संवाद सुनाया और राज कर्मचारियों को प्रभु के दर्शनार्थ जाने की तैयारी शीघ्र कर डालने की आज्ञा दी। इधर अश्वसेन राजा तैयार हो गये, उधर वामादेवी और प्रभावती तैयार होगई। सब लोग राजप्रासाद से प्रस्थान कर उद्यान की ओर चले। जब वे उद्यान के इतने निकट पहुँच गये, कि समवसरण दिखाई पड़ने लगा तब महाराज सवारी से उतर पड़े। उन्होंने उत्तरासन किया तथा अन्य धार्मिक विधि की। तत्पश्चात् वे समवसरण मे पहुँचे। प्रभु के दर्शन कर महाराज अश्वसेन, वामादेवी और प्रभावती का हृदय आनन्द से भर गया। महाराज अश्वसेन ने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर इस प्रकार स्तुति की:—"देवाधिदेव! आज हमारा अत्यन्त अहो भाग्य है, कि आपके समान साक्षात् परमपुरुष-परमात्मा के दर्शन प्राप्त हुए है। आज मेरा जीवन धन्य हो गया, मेरे नेत्र सफल हो गये और मेरा आत्मा पवित्र हो गया। नाथ! आप परम वीतराग है। आप घातिया

कर्मों की प्रबल सेना को जीत कर अनन्त चतुष्टय रूपी अक्षय लक्ष्मी के स्वामी बने है और जो अन्तःकरण से आपका शरण ग्रहण करते है वे भी इस लक्ष्मी के पात्र बन जाते है। जिनेन्द्र ! आप पतित-पावन है। संसार-सागर मे डूबते हुए प्राणियो के लिए अनुपम यान है। जीवों के लिए कल्याण-मार्ग का प्ररूपण करने वाले परम कृपालु, दीनानाथ, दीनवत्सल है। आपकी जय हो। स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान आपका नीलवर्ण शरीर ऐसा जान पड़ता है, जैसे सुमेरु पर्वत पर सजल जलद हो। वह भव्य जीव रूपी मयूरो को अत्यत आह्लाद उत्पन्न करता है। आपके मस्तक पर विराजित तीन छत्र रत्न त्रय के परम प्रकर्ष की सूचना दे रहे है। आकाश मे गरजती हुई देव दुन्दुभियां मानो यह घोषणा कर रही है, कि आप ही क्रोध आदि कषायों के पूर्ण विजेता है। देव आकाश से गधोदक की वर्षा करके मानो अपने सम्यक्त्व-तरु का सिञ्चन कर रहे है। जाति-विरोधी पशु आपके पुण्य-प्रभाव से वैर-विरोध का परित्याग करके मित्रभाव से पास मे बैठे हुए है। आपकी अहिंसा, वात्सल्यता और समता भाव के प्रभाव से उनका घोर विरोध न जाने कहा अदृश्य हो हो गया है। देव ! आपने साधना के कठोर पथ मे प्रयाण करके अपनी असामान्य शक्ति व्यक्त की है और सफलता का सुन्दर आदर्श जगत् के समक्ष उपस्थित कर दिया है। आपके पथ का अनुसरण करने वाले सभी प्राणी आपकी ही भाति परमपद प्राप्त करेगे। नाथ ! आपकी जय हो विजय हो। सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से मै आपके चरण कमलो मे प्रणाम करता हू।"

इस प्रकार प्रभु की स्तुति करने के पश्चात् महाराज अश्वसेन अपने स्थान पर बैठ गये। महारानी वामादेवी और प्रभावती ने

भी अपना स्थान ग्रहण किया।

दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यायज्ञान जैसा दिव्य ज्ञान उत्पन्न हो चुका था फिर भी भगवान् ने कभी धर्म देशना नहीं दी थी। इसका विशेष कारण था और वह यह, कि केवल ज्ञान की उत्पत्ति से पहले ज्ञान अपूर्ण होता है। अपूर्ण ज्ञान से समग्र वस्तु-तत्त्वका यथार्थ संवेदन नहीं होता। वस्तु अनन्त है। एक-एक वस्तु में अनन्त-अनन्त गुण हैं और एक-एक गुण की अनन्तान्त पर्यायें क्रमशः होती रहती हैं। उन सबको केवल ज्ञान के बिना जानना असंभव है। बल्कि एक भी वस्तु पूर्ण रूपसे केवल ज्ञान के बिना नहीं जानी जा सकती। इसलिए आगम में कहा है—
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।'
अर्थात् जो एक वस्तु को अनन्त गुण-पर्याय रूप से जान लेता है वह पूर्ण ज्ञानी होने के कारण समस्त वस्तुओं को जान लेता है और जो समस्त वस्तुओं को जानता है वही पूर्ण रूपेण एक को जान सकता है। अतएव एक भाव को पूर्ण रूप से जानने के लिए भी केवलज्ञान अपेक्षित है। जो यद्वा तद्वा प्ररूपणा नहीं करना चाहता वह आत्मा में पहले पूर्ण ज्ञान के आविर्भाव के लिए प्रयास करता है। पूर्ण योग्यता उत्पन्न होने के पश्चात् की जाने वाली प्ररूपणा ही पारमार्थिक हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रभु जिस परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए देशना देते हैं, उसका साक्षात् उदाहरण जब तक जनता के सामने न हो तब तक जनता शंकित रह सकती है। अतः प्रभु पहले उस साधना का आचरण करके-उसे व्यवहार में लाकर फिर जनता को उसका उपदेश देते हैं। इससे वह उपदेश अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता है, उसके प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संदेह

नही रहता। इत्यादि कारणो से भगवान् ने कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व धर्मदेशना नही दी थी।

शका—यदि केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले धर्मोपदेश देना उचित नहीं है, तो सामान्य मुनि धर्मोपदेश क्यो देते है ?

समाधान—सामान्य मुनि मौलिक तत्त्व की स्थापना नही करते। वे तो अर्हन्त भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का ही अनुवाद करते है। सामान्य मुनियो का आगमानुकूल उपदेश अर्हन्त भगवान् की दिव्यध्वनि की एक प्रकार की प्रतिध्वनि है। अतः मुनि द्वारा किया जाने वाला आगमानुकूल उपदेश उचित ही है। उस उपदेश मे स्वतः नहीं किन्तु आगमाश्रित या अर्हन्त भगवान् के उपदेश पर आश्रित प्रामाण्य है।

धर्म-देशना

केवल ज्ञान प्राप्त होने पर आज पहली बार भगवान् पार्श्वनाथ की धर्म-देशना प्रारम्भ हुई। भगवान ने इस आशय का उपदेश दिया.—

भव्य जीवो! अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो। अन्तर्दृष्टि प्राप्त किये बिना पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं होता। आत्मा स्वभाव से सिद्ध, बुद्ध, और अनन्त गुणों से समृद्ध होने पर भी क्यों नाना योनियो मे भ्रमण कर विविध वेदनाओं का पात्र बन रहा है? इसका कारण अज्ञान है। जीव ने अज्ञान के वश होकर अपनी शक्तियों को विस्मृत कर दिया है। वह बहिरात्मा बन गया है। ससार के भोगोपभोगों मे सुख की कल्पना करता है। इन्द्रियों का स्वामी पद-च्युत होकर इन्द्रियों का दास हो रहा है। कर्मों ने आत्मा की असीम अनन्त शक्तियों को

आक्रान्त कर रखा है। ज्ञानावरण कर्म ने अनन्त ज्ञान शक्ति को परिमित, मलिन और विकृत बना दिया है। मोहनीय कर्म के कारण जीव की दयनीय दशा हो गई है। इसी प्रकार अन्यान्य कर्मों ने आत्मा के सर्वस्व के समान समस्त गुणों को स्वरूपच्युत बना डाला है।

भव्य जीवो! समझो, समझो। अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टिविक्षेप करो। देखो तुम्हारी अन्तरात्मा कितनी उज्ज्वल है, कितनी प्रकाशमय है, कितनी अद्भुत शक्तियों का पुञ्ज है। ज्ञान-दर्शन का असीम सागर तुम्हारे भीतर तरंगित हो रहा है। तुम अपूर्व ज्योतिस्वरूप हो, चित्-चमत्कारमय हो। अनन्त और असीम अव्याबाध सुख के तुम स्वामी हो। अपने स्वरूप को समझो। अपनी अन्तरदृष्टि खोलो, दृष्टि दूषित होने के कारण तुम्हें अभी पदार्थों जैसा स्वरूप ज्ञात हो रहा है, वह स्वरूप दृष्टि की निर्मलता प्राप्त होने पर सर्वथा निर्मूल दिखाई देगा। सांसारिक पदार्थ जो सुखद प्रतीत हो रहे हैं, वे वस्तुतः दुखद हैं। आत्मा की भव-परम्परा के कारण हैं। विषय विष है, बन्धु-बान्धव बंधन हैं, सम्पत्ति विपत्ति है, भोग रोग है, यह दृष्टि का नैर्मल्य प्राप्त होने पर ज्ञात हो जायगा। अतएव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो। सम्यग्ज्ञान का प्रचार करो। अज्ञान जीव का सब से भयंकर रिपु है। उसका उन्मूलन करो। ज्ञान प्राप्त करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय-क्षयोपशम होगा। केवलज्ञान प्राप्त होगा। यही आत्मा की सर्वोत्कृष्ट संपत्ति है। यही आत्मा का निज स्वरूप है। अतएव भद्र जीवो! आत्मा के स्वरूप की ओर देखो! समझो, समझो।

दान मोक्ष का प्रथम कारण है। अभयदान सब दानों मे श्रेष्ठ

दान है। भव-भ्रमण संबंधी भयों से अपनी आत्मा को सुरक्षित करना स्व-अभयदान है। मनुष्य को मनुष्य के भय से, विजातीय के भय से, आकस्मिक भय से, आजीविका आदि के भय से, अपयश एवं मृत्यु आदि के भय से मुक्त करना, इसी प्रकार मनुष्येतर प्राणियों को यथायोग्य निर्भय करना, अभयदान है। यह अभयदान आत्मा को सहज स्वरूप में-निजानन्द में ले जाता है। लोक में यश का विस्तार इससे होता है। वसंतपुर की रानी सौभाग्यसुन्दरी ने अभयदान द्वारा विपुल यश उपार्जन किया था। उनकी कथा इस प्रकार है:—

एक बार वसंतपुर के राजा के पास कोई हत्या का अभियुक्त आया। अभियोग प्रमाणित होने पर राजा ने उसे प्राणदंड सुना दिया। तिथि नियत कर दी गई। राज कर्मचारी अपराधी को राज महलों के समीप से ले जा रहे थे। महारानी की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसका विपण्ण और दैन्ययुक्त वदन देख कर रानी को दया उपजी। रानी ने कहला भेजा—आज इस अपराधी को प्राणदण्ड न दिया जाय। मेरी ओर से इसे आज यथेष्ट सुस्वादु भोजन दिया जाय और सौ रुपये भेंट में दिये जाएँ। किस का सामर्थ्य था जो रानी की आज्ञा के प्रतिकूल व्यवहार करता। अपराधी को सुमधुर पकवान खिलाये गये परन्तु खाते समय उसे यह भी न जान पड़ा, कि गुड़ खाता हूँ या गोबर खाता हूँ। उसका चित्त आगे खड़ी हुई मृत्यु की भयंकरता का नग्न चित्र देखने में संलग्न था। उसका समग्र उपयोग उसी ओर सिमट रहा था। जब उसके सामने रुपये रक्खे गये तो उसने रुपयों की ओर दृष्टि भी न डाली। जैसे अर्थ मोह को उसने सर्वथा त्याग दिया हो। दूसरा दिन हुआ। जब वह प्राण दण्ड के लिए

ले जाया जाने लगा तो दूसरी रानी ने रोक दिया। उस दिन भी उसे सुन्दर और मनोज्ञ भोजन कराया गया। दूसरी रानी ने उसे पांचसौ रुपये दिये इतना होने पर भी अपराधी के मन में तनिक भी शान्ति न हुई। तीसरे दिन तीसरी रानी ने उसका दण्ड रुकवा कर उसे एक सहस्र रुपये दिये। चौथे दिन चौथी रानी ने राजा से कहला भेजा कि मेरे दुर्भाग्य का उदय है अतः आपकी कृपादृष्टि से मै सर्वथा वंचित हूँ। आपने मुझे अवगणित कर रक्खा है। फिर पहले आपने मुझे एक वर दे रखा है। मै आज वह वर मांगती हूँ। मेरी याचना यह है, कि उस प्राणदंड-प्राप्त अपराधी को प्राणदंड से मुक्त कर दिया जाय।

राजा वचन बद्ध था। उसने चौथी रानी की याचना स्वीकार करके अपराधी को मुक्त करने का आदेश दे दिया। उस समय अपराधी की प्रसन्नता का पारावार न था। उसे जीते जी पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। वह मुक्त हो अपने पुत्र आदि सज्जनों से मिला।

संयोगवश राजा की कृपादृष्टि फिर उस चौथी रानी पर हो गई। इससे अन्य रानियां उससे जलने लगीं। एक बार उन सब ने मिल कर चौथी रानी का उपहास करना आरम्भ किया। एक ने कहा—'यह रानी तो हो गई, पर रानी का लक्षण इस मे एक भी नही है। बेचारे प्राणदंड-प्राप्त उस अपराधी को इसने एक भी दिन भोजन न कराया और न थोड़े-से रुपये ही दिये।' बात छिड़ गई। जब बात बहुत बढ़ गई, तो सारा अभियोग राजा के सामने उपस्थित हुआ। बड़े-बड़े रहस्यमय षड्यंत्रों को तत्काल समझ जाने वाला, अत्यन्त विद्वान और बुद्धिमान् नरेश इस झगड़े से बड़े असमंजस मे पड़ गया। किसे बुरा

कहे और किसे भला कहे ? जिसे बुरा कहता है वही रूठ जाती है, मुँह फैलाती है और झगड़ने के लिए तैयार हो जाती है। अन्त मे राजा ने उसी अपराधी के ऊपर इस झगड़े के निर्णय का भार छोड़ दिया। अपराधी बुलाया गया। उससे राजा ने कहा—'चारों रानियों ने तुम्हारे ऊपर उपकार किया है। यह तो निर्विवाद है, पर पर विवादग्रस्त बात तो यह है, कि किस रानी ने सब से अधिक उपकार किया है ? इस विवाद का निपटारा तुम्हें करना है। बताओ तुम किसका उपकार सब से अधिक समझते हो ?' अपराधी ने कहा—'अन्नदाता ! प्रश्न अत्यंत सरल है और जितना सरल है उससे भी अधिक कठिन है। समस्त महारानियों ने मुझ पर अत्यन्त उपकार किया है। उसमे तरतमता करना मुझे अच्छा नहीं लगता। फिर भी राजाज्ञा से प्रेरित होकर मुझे निर्णय करना होगा। प्रथम तीन महारानियो ने मुझे पकवान खिलाये और रुपये भेट मे दिये। परन्तु मृत्यु की विभीषिका के सामने न मै पकवानों का स्वाद ले सका, न रुपयों से ही मुझे प्रसन्नता हुई। उस समय जीवन का ही अन्त उपस्थित था, तो रुपये लेकर उनसे क्या करता ? चौथी महारानी ने न पकवान खिलाये, न रुपये दिये पर उन्होंने मुझे प्राणदान दिया है। इस दान से मुझे जो आनन्द हुआ उस का अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। अत क्षमा कीजिये। महाराज और महारानियो ! मै चौथी महारानी के उपकार को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। मैं उनका आजीवन दास हूँ और आप सब का भी आजीवन कृतज्ञ हूँ। अपना जीवन देकर भी मै उन से अनृण नहीं हो सकता। इतना कह कर भूतपूर्व अपराधी ने चौथी महारानी को प्रणाम करने के लिए अपना मस्तक

पृथ्वी पर झुकाया।

इस उदाहरण से अभयदान की महत्ता भली भांति समझी जा सकती है। सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ ने यह महान् पद अभयदान के ही प्रभाव से प्राप्त किया था। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है :—

राजा मेघरथ की दयाशीलता सर्वत्र विख्यात हो चुकी थी। वह सदैव इस बात का ध्यान रखते थे, कि उनके किसी व्यवहार से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचने पाए। इतना ही नहीं उनके राज्य मे भी जीवहिंसा का निषेध था। एक बार देवराज इन्द्र अपनी भरी सभा मे बैठे मध्यलोक का प्रकरण चलने पर इन्द्र ने राजा मेघरथ की दयालुता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सब देवों ने भी अन्तःकरण से मेघरथ की प्रशंसा में सहयोग दिया। किन्तु दो देवों को इन्द्र की बात की प्रतीति न हुई। उन्होंने स्वयं परीक्षा करके तथ्यता-अतथ्यता का निर्णय करना निश्चित किया। दोनों स्वर्ग से चल दिये। एक ने कबूतर का रूप बनाया और दूसरे ने बाजका भेष बनाया।

कबूतर-रूपधारी देव उड़ता-उड़ता राजा मेघरथ की गोद मे जाकर बैठ गया। थोड़ी ही देर मे बाज भी वहां आ पहुँचा। वह राजा मेघरथ से बोला—"महाराज! आप न्याय-प्रिय नरेश है। मेरा शिकार आपके पास आ गया है। कृपा कर मुझे लौटा दीजिये।"

राजा मेघरथ असमंजस मे पड़ गये। शिकार इस बाज का है। अतः लौटा देना कर्त्तव्य है। और शरणागत की प्राण देकर रक्षा करना भी मेरा कर्त्तव्य है। दो कर्त्तव्यों मे यह घोर विरोध उपस्थित हुआ है। इस विरोध को किस प्रकार मिटाया जाय?

किस कर्त्तव्य की अवहेलना करके किसे अपनाया जाय ? किसी भी एक कर्त्तव्य का त्याग करने से मैं कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाऊँगा ! फिर क्या उपाय किया जाय ? यह कैसी उलझन है। इस प्रकार सोचते-सोचते महाराज मेघरथ को एक उपाय सूझ गया। उनके मन मे कुछ शान्ति हुई और चेहरे पर प्रसन्नता प्रगट हो गई। उन्होंने बाज से कहा— 'भाई बाज ! शरणागत की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है और मैं विशेष रूप से इस कर्त्तव्य का पालन करता हू। तुम्हारा शिकार मेरे शरण मे आ गया है। अब तुम्हें नहीं लौटा सकता।'

बाज ने कहा—महाराज ! आप बड़े न्यायपरायण और दयालु रूप से प्रसिद्ध हैं। पर देखता हूं कि आप मेरे प्रति न तो न्याय-व्यवहार करते है और न दया ही दिखलाते हैं। मेरा शिकार मुझे सौंप देना आपका कर्त्तव्य है। मैं भूखा हूं।'

राजा मेघरथ—'तुम भूखे हो तो उत्तम से उत्तम भोजन मॅगवाये देता हूं। इसके अतिरिक्त कबूतर के बदले जो कुछ चाहो, देने को प्रस्तुत हूं। मगर शरणागत का परित्राण होना चाहिए।'

बाज—'महाराज ! मुझे आपके उत्तम भोजन की आवश्यकता नहीं है। मैं मांस-भक्षी हूं। मांस ही मेरा भोजन है। क्या आप कबूतर के बदले मुँह माँगी वस्तु देने को सचमुच तैयार हैं ?

राजा मेघरथ—'प्राणों का बलिदान करके भी मैं अपने वचन की रक्षा करने से नहीं हिचकता।' शूरवीर पुरुषों के 'प्राण जायॅ पर वचन न जाहीं।'

बाज—यदि आप अपने वचन पर इतने दृढ़ हैं, तो

दीजिए इस कबूतर के नाप का अपने शरीर का मांस।'

राजा मेघरथ के लिए यह माँग महँगी न थी। बाज ने जब कबूतर के बदले उनके शरीर का माँस माँग लिया, तब उन्हें कबूतर के बच जाने का निश्चय हो गया। इस प्रसन्नता के प्रवाह से अपनी शारीरिक विपत्ति का विषाद न जाने किस ओर बह गया? शरीर का थोड़ा-सा मांस देकर भी यदि अपने जीवन के महान् आदर्श की रक्षा की जाय तो सौदा क्या महँगा है? आदर्श कर्त्तव्य तो जीवन से भी अधिक महान् है, अधिक गुरुतर है, अधिक मूल्यवान् है, अधिक रक्षणीय है और अधिक प्रिय है। और यहां तो सिर्फ कबूतर के तोल के मांस से ही आदर्श का रक्षण होता है। कितने आनन्द की बात है? इस प्रकार सोच कर उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपना मास देना स्वीकार कर लिया।

तराजू आ गई। एक ओर पलड़े मे थर-थर कांपता हुआ कबूतर बैठा और दूसरी ओर महाराज मेघरथ ने अपने हाथों अपने शरीर का मांस काट कर रखा। जितना मांस उन्होंने काटा वह कबूतर की बराबर न हुआ। फिर काट कर चढ़ाया वह भी पूरा न हुआ तो और ज्यादा काटा। दैव माया के कारण जब मांस वाला पलड़ा ऊँचा ही रहा, तो मेघरथ महाराज स्वयं पलड़े मे बैठ गये। उन्होने कबूतर के परित्राण के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर दिया।

महाराज मेघरथ की परीक्षा हो चुकी। इन्द्र ने देव सभा मे जितनी प्रशंसा उनकी की थी। वे उससे भी अधिक प्रशंसा के पात्र निकले। देवो ने अपना असली स्वरूप प्रकट किया। कष्ट देने के लिए क्षमा-याचना की और कहने लगे—'महाराज,

आपकी दयालुता वास्तव मे आकाश की भांति व्यापक और सुमेरु के समान निश्चल है। आप संसार मे अनुपम अशरण-शरण है। आपकी कीर्ति इस लोक मे चन्द्र-सूय के समान अमर रहेगी और जनता को उच्च आदर्श और कर्त्तव्य का दिव्य संकेत करती रहेगी। आप धन्य है, अतिशय धन्य हैं। राजा मेघरथ ने इस अभयदान के प्रभाव से तीर्थकर गोत्र का बंध किया। और सोलहवे तीर्थकर हुए।

भव्य जीवो! सुपात्रदान भी अभयदान का साथी है। जैसे अभयदान के प्रभाव से जीव चक्रवर्ती वासुदेव तीर्थकर आदि उच्च पद पाते है और अन्त मे निर्वाण को प्राप्त होते है। उसी प्रकार सुपात्र दान से भी निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो भव्य मुनि, आर्यिका, श्रावक और सम्यग्दृष्टि को सद्भाव पूर्वक विशुद्ध दान देता है, वह अनेक भावों के संचित कर्मो का नाश करके एक दिन अक्षय सुखों का भागी बन जाता है। दान दरिद्रता का नाशक और सौभाग्य का उदय करने वाला है। दान के प्रभाव से दुःख के बादल दूर हो जाते है। इस लोक मे यश और परलोक मे सुख, दान से प्राप्त होता है। दान मे विधि, द्रव्य, दाता और पात्र के भेद से अनेक भेद हो जाते है। निर्ग्रंथ साधु दान के सर्वोत्कृष्ट पात्र है। श्रावक और सम्यग्दृष्टि भी उत्तम पात्र हैं। मिथ्यादृष्टि, क्रूर और कुमार्गगामी जीव कुपात्र है। उन्हे धर्म बुद्धि से दान न देकर करुणाबुद्धि से दान देना चाहिए। संसार का प्रत्येक प्राणी अनुकम्पा दान का पात्र हो सकता है। अनुकम्पा-दान देने से भी सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है। जो मिथ्यादृष्टि दान देते हुए को रोकते है, या दान मे अन्तराय लगाते है, वे महा अशुभ कर्मो का बंध करते

हैं। साधु-साध्वी को दिये जाने वाले दान में विघ्न करने वाला अधम जीव है।

भगवान् ऋषभदेव ने पहले के तेरहवे भव में एक मुनिराज को उन्नत भाव से घृत का दान दिया था। इससे उन्हें तीर्थंकर गोत्र का वंध हुआ और वे प्रथम तीथकर हुए। वात इस प्रकार है—एक मुनिराज ने आहार का पात्र छोटा रखा था। वे श्रावक के घर आहार लेने गये। श्रावक (भावी ऋषभदेव) ने कहा—'महाराज! पात्र कुछ बड़ा रखना चाहिए।' मुनिराज ने कहा—'मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।' मगर श्रावक मुनिराज की भक्ति मे तन्मय था। उसने छोटे से पात्र में घी उंडेलना आरम्भ कर दिया। पात्र भर जाने पर मुनिराज ने कहा—'श्रावक जी! यह क्या कर रहे हो? देखो घृत व्यर्थ बह रहा है। रुक जाओ। श्रावक भक्ति के उद्रेक में कहने लगा— 'गुरुराज! यह घी मेरा नही आपका ढुल रहा है। मै तो पात्र मे डाल रहा हूँ। पात्र मे पहुंचकर आपका हो चुका। अत. जो ढुल रहा है, वह आपका ही है—मेरा नही।' इस प्रकार वह घृत डालता ही चला गया।

उदार हृदय दानशूर श्रावक ने उस समय उत्कृष्ट भावना से तीर्थंकर गोत्र का वंध कर लिया। वह तेरहवे भव में तीर्थंकर हो आदिनाथ के नाम से विख्यात होकर अन्त में मुक्ति को प्राप्त हुए।

मुक्ति का दूसरा साधन, शील है। उसमें ब्रह्मचर्य प्रधान है। दानों मे जैसे सुपात्र और अभयदान उत्तम है। उसी प्रकार सब प्रकार की तपस्याओं मे ब्रह्मचर्य तप उत्तम है। ऐसे तो सभी इन्द्रियो के विषयो का त्याग दुष्कर है किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय का आकर्षण अत्यन्त दुर्धर है। उसके सामने साधारण मनुष्य और

पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या, देवता भी नतमस्तक होते हैं। अनेक ऋषि-मुनि भी कभी-कभी इस आकर्षण के शिकार हो जाते हैं। इसने सारे संसार पर अपनी मोहिनी माया फैला रक्खी है। इसके विषम पाश में पड़ कर आत्मा विविध प्रकार की विपत्तियां भोग रहे हैं। फिर भी उन्हें चेत नहीं है। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन करना दुष्कर हो गया है। परन्तु इस दुष्कर अनुष्ठान का सेवन करने वाले उत्तम पुरुष ही सुख, शान्ति, संतोष और संयम के पात्र होते हैं। ब्रह्मचारी पुरुष यशस्वी होता है, तेजस्वी होता है और देवता भी उसके चरण-कमलों में मस्तक नमाते हैं।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य पालन करने वाले महापुरुष को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी प्रणाम करते हैं।

दुष्कर ब्रह्मचर्यधारी को देवता नमस्कार करते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु मुक्ति-वधू भी उसे वरण करने के लिए तत्पर रहती है।

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कम्मेणं सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्सा वि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥

जैसे तालाब को निर्जल करने के लिए पहले नवीन जल का आगमन रोका जाता है, फिर पहले भरे हुए जल को उलीचा जाता है, ऐसी क्रिया करने से तालाब सूख जाता है। इसी प्रकार नवीन आने वाले कर्मों को—आस्रव को संयमी पुरुष अपने संयम के द्वारा निरुद्ध कर देता है और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर डालता है। इस प्रकार करोड़ों भवों में बंधे हुए कर्म तपस्या से जीर्ण हो जाते है।

तपस्या आध्यात्मिक शुद्धि का श्रेयस्कर मार्ग है। साथ ही वह शरीर-शुद्धि का भी साधन है। तपस्या अनेक रोगों की अचूक औषधि है। तपस्या से अनेक विस्मयोत्पादक लब्धियों की उपलब्धि होती है। तप समस्त अभीष्ट का साधक, आत्मा का शोधक, विकारों का बाधक और मुक्ति का आराधक है।

मुक्ति का चौथा साधन भावना है। मन की शुभ या अशुभ वृत्ति को भावना कहते हैं। यहां मुक्ति के कारणों का प्रकरण होने से शुभ वृत्ति या शुभ भावना को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अशुभ भावना संसार भ्रमण का कारण है और शुभ भावना क्रमश. मोक्ष का हेतु है। दान, शील और तप में भावना अन्वित रहती है। भावशून्य दान आदि मोक्ष के कारण नही होते। दान आदि को शून्य स्थानीय समझना चाहिए और

भावना को अंक स्थानीय। जैसे अंक-रहित शून्यों का कुछ भी महत्व नही है। उसी प्रकार भाव-रहित दान आदि भी वृथा हैं। अंक के साथ शून्य जोड़ देने पर अंक महत्व बढ़ जाता है और भाव के साथ दान आदि हो, तो भाव का महत्व बढ़ जाता है। जिसका अन्तःकरण सद्भावना से भावित है। वह भवन में रहे या वन में रहे गृहस्थ-वेषी हो या साधु-वेषी हो, पुरुष हो या स्त्री हो, कोई और कैसा भी क्यों न हो, मुक्ति उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। भावना की महिमा अनिर्वचनीय है। मरुदेवी ने भावना के प्रताप से हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे मुक्ति पाई और चक्रवर्ती भरत ने काच भवन के भीतर ही केवलज्ञान प्राप्त कर परम पुरुषार्थ की सिद्धि की। सनभावना का इससे अधिक महत्व क्या हो सकता है।

भद्र जीवो! अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इस मोक्ष की आराधना करो। जिसका आचरण करना शक्य न हो, उस पर श्रद्धा अवश्य रक्खो। श्रद्धावान व्यक्ति भी शनैः शनैः अजर अमर पद प्राप्त कर लेता है।

प्रतिबोध

भगवान् ने अपने शिष्य-मुनियों मे से दस मुनियों को गण-धर पद पर प्रतिष्ठित किया था। उनके नाम यह हैं—(१) आर्य दत्त (२) आर्यघोष (३) विशिष्ठ (४) ब्रह्म (५) सोम (६) श्रीधर (७) वीरसेन (८) भद्रयश (६) जय और (१०) विजय। इन दस गणधरों को भगवान् ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समास रूप से ज्ञान दिया। गणधर विशेष ज्ञानशाली थे। अतः उन्होंने इस ज्ञान के आधार पर विस्तृत द्वादशांग की रचना कर ससार मे विशेष रूप से ज्ञान का प्रसार किया।

वास्तव मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-सिद्धान्त जैन दर्शन की मूल भित्ति है। इसी सिद्धान्त मे स्याद्वाद का समग्र स्वरूप अन्तर्गत हो जाता है, द्रव्य-पर्याय का वर्णन गर्भित हो जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विवेचन हो जाता है और कार्य कारण का रहस्य भी आ जाता है। इसी सिद्धान्त में प्रकारान्तर से नित्यै-कान्तवाद, अनित्यैकान्तवाद, ईश्वर कर्तृत्व आदि-आदि मिथ्या मतों का निराकरण भी समन्वित है। अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों मे इतने गंभीरतर दर्शन शास्त्र का सत्त्व खीचकर रख देना भगवान् के वचनातिशय अथवा प्रतिपादन पटुता का अद्भुत निदर्शन है।

भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की और इस प्रकार अपने तीर्थंकर नाम कर्म का उदय सार्थक कर जनता को मुक्ति के मार्ग मे लगाया।

पार्श्व प्रभु के ज्येष्ठ अन्तेवासी श्री आर्यदत्त गणधर ने मनुष्यों को उपदेश दिया कि जो कर्म के उदय के कारण, साधु-धर्म

को धारण करने मे असमर्थ हैं। उन्हे देशविरति रूप श्रावक धर्म अवश्य ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि मुक्ति रूपी महल पर पहुँचने के लिए अनेक सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हे। जो एक दम ऊँची सीढ़ी पर आरूढ़ नही हो सकते, उन्हे नीचे सीढ़ी पर आरुढ़ हो कर उन्नति करनी चाहिए। प्रत्येक सीढ़ी जैसे महल की ओर ही ले जाती है, उसी प्रकार क्या देशविरति और क्या सर्वविरति दोनो मुक्ति की ओर ले जाती है। श्रावक-धर्म का निर्दोष भाव पूर्वक पालन करने वाला भव्य प्राणी भी सात-आठ भवों मे मुक्ति कामिनी का कमनीय कान्त वन जाता है। इस प्रकार का गणधर महाराज का उपदेश सुन कर अनेक मुमुक्षुओ ने श्रावक-धर्म धारण किया। अनेको ने प्रकीर्णक व्रत-नियम स्वीकार किये। आर्यदत्त का उपदेश सुन कर श्रोतृ समूह अपने-अपने स्थान पर चला गया।

धरणेन्द्र और पद्मावती भी उस समय अपनी दैविक सम्पत्ति के साथ प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुए। प्रभु को यथा-विधि प्रणाम कर धरणेन्द्र वोला—"हे दीनानाथ! आपकी महिमा अपरम्पार है। आपका वास्तविक स्वरूप व्यक्त करने की मुझ मे जरा भी क्षमता नहीं है। आप अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी अनन्त शक्ति सम्पन्न और अनन्त आत्मीय सुख के सागर हैं। हे प्रभो! आप पतितो के अनन्य आश्रय है। आपके पावन पाद-पद्म के प्रसाद से पतित-से-पतित प्राणी भी परम पद का आस्पद बन जाता है। आप तीन लोकों मे श्रेष्ठ है। समस्त संसार के पूजनीय पुरुषोत्तम हैं। सुर-असुर इन्द्र-अहमीन्द्र सभी आपके सेवक है। सभी आपके चरणो मे नतमस्तक रहते है। आपने कठोर तपस्या कर के आत्मिक सम्पत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति की

है। हे जिनेश! आप जगत् के निस्वार्थ बन्धु हैं। जगत् के नाथ हैं, जगत् के त्राता हैं, जगत् के पथ-प्रदर्शक हैं। हे जिनेन्द्र! आप संसार के हितकर हैं। विविध आधि-व्याधि और उपाधि की धधकती धूनी से विध्वंस होने वाले धरिणी के जीवधारियों का उद्धार करने के लिए धर्म रूपी सुधा की धारा बहा रहे हैं। प्रभो! आपकी वीतरागता चरम सीमा को प्राप्त हो चुकी है। आपके शुभ दर्शनों का सौभाग्य पूर्वोपार्जित प्रकृष्ट पुण्य के बिना नहीं मिलता। हे अशरण-शरण! आपने हम जैसे प्राणियों पर, जब हम नाग-नागिन के रूप में धूनी में जल-भुन रहे थे--असीम दया दिखाई थी। आपने अमित महिमा-मंडित मंगलमय महामन्त्र अपने मुखारविन्द से सुनाया था। उसीके प्रताप से हमें यह संपत्ति प्राप्त हुई है। आपने अपनी करुणा के शीतल कणों की वृष्टि हम पर न की होती, तो न जाने हम लोग किस दुर्गतिमें दयनीय दशा का संवेदन करते होते। प्रभो! आपकी इस अनुपम असीम करुणा का प्रतिशोध नहीं हो सकता। हे महाभाग! हे विश्ववंद्य! आप को हम पुनः पुनः मन-वचन काय से प्रणाम करते हैं। जन्म-जन्मान्तर में आपकी भक्ति हमारे हृदय-कमल में सदैव बनी रहे यही हमारी कामना है। यही वर-दान हम आपसे चाहते हैं।"

एक बार भगवान् पार्श्वनाथ विचरण करते हुए सावंथी (सावत्थी) नगरी में पधारे। वहां भी समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने धर्म-देशना दी। धर्मामृत का पान करने के बाद अनेक मनुष्यों ने साधु-वृत्ति धारण की। अंगतिक गाथापति ने भी संसार से विरक्त हो कर मुनि-धर्म अंगीकार किया। वह [illegible] संयम के पालन में [illegible] कर जाते थे।

जब उनके गण के नायक मुनि, प्रमादवश की हुई भूल का प्राय-श्चित लेने को कहते, तो आगमिक मुनि टालमटोल कर जाते थे। वे अपनी भूल को स्वीकार नहीं करते थे। इसी अवस्था मे उन्होंने शरीर का त्याग किया। शरीर-त्याग कर वे चन्द्र-विमान मे चन्द्रदेव हुए।

बहुत से लोगो की यह समझ है, कि चन्द्रमा का जो बिम्ब दिखाई देता है, वही चन्द्रदेव है। किन्तु यह समझ भ्रम-पूर्ण है। गोलाकार जो सफेद चन्द्रमा दिखाई देता है, वह जमीन है। उसमे अनेक देवों का निवास है। वहां रहने वाले सब देवों का अधिपतिदेव, चन्द्रदेव कहलाता है। यह सफेद पृथ्वी, मेरु पर्वत के चारो ओर घूमती है। इसके नीचे एक पृथ्वी काली है। उसे राहु की पृथ्वी कहते है। उसमे राहु नामक देवता निवास करता है। उसके साथ उसके अधीन अनेक देवता और रहते है। यह जमीन भी गोल और चपटी है। चन्द्र-पृथ्वी के साथ-साथ, राहु-पृथ्वी भी घूमती रहती है। मगर दोनों की चाल बराबर नहीं है। इस चाल के भेद से ही द्वितीया, तृतीया चतुर्थी आदि-आदि

विभाग होते हैं।

चन्द्रदेव और सूर्यदेव की मृत्यु होने पर चन्द्र-पृथ्वी और सूर्य-पृथ्वी पर कोई प्रभाव नही पड़ता। एक देव के मरने पर दूसरे देव की उत्पत्ति हो जाती है और पृथ्वियों की चाल पूर्ववत् जारी रहती है।

चन्द्र और सूर्य की पृथ्वी के नीचे राहु और केतु की पृथ्वी आ जाने से चन्द्र-सूर्य-पृथ्वी दृष्टि के अगोचर हो जाती है। इसी को चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण कहते है। अनेक लोग ऐसा समझते है, कि ग्रहण के समय चन्द्र या सूर्य पर बड़ी भारी विपदा आ पड़ती है। यह भ्रान्त धारणा है। जिस प्रकार अगस्तिक गाथापति चारित्र की विराधना कर चन्द्रदेव हुआ उसी प्रकार सूर्यदेव भी हुआ है।

सावंथी नगरी की ही घटना है। तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ यत्र-तत्र-सर्वत्र विहार करते हुए इस नगरी में पधारे। वहां आपने धर्म-देशना दी। देशना समाप्त होने पर वहांके सुप्रतिष्ठित नामक गाथापति ने चारित्र धारण किया। चारित्र धारण करके उसने थोड़े ही दिनों मे, अंग शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। वह भी अगस्तिक गाथापति की तरह अपनी भूल स्वीकार न करता था। अतएव उसने अपने संयम को विराधित कर लिया और वह सूर्य-विमान मे सूर्य देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने मोहनीय कर्म का समूल विनाश कर दिया था। मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से वे पूर्ण निष्काम हो गये। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है और मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर इच्छा का भी अभाव हो जाता है। अतएव भगवान् की इस समय की क्रियाएँ निष्काम भाव से होती

थीं। कोई यह आशंका कर सकता है, कि जब भगवान् निरीह थे, तो धर्मोपदेश कैसे देते थे ? संसार मे विना इच्छा के कोई भी कर्त्ता किसी भी कार्य मे प्रवृत्त नही होता। यह प्रश्न संगत है। और इसका समाधान इस प्रकार है। जैसे बजाने वाले के हस्त से स्पर्श से मृदग इच्छा-रहित होन पर भी-ध्वनि करता है। उसी प्रकार अरिहंत भगवान इच्छा रहित होने पर भी तीर्थंकर नाम-कर्म का उदय होने के कारण धर्मोपदेश करते है। दूसरा कारण भव्य जीवो के प्रबल पुण्य का उदय है । भव्य प्राणियों के प्रबल पुण्य-परिपाक से तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि खिरती है। अतएव इच्छा और ध्वनी मे अविनाभाव संबन्ध नही है। उस शब्द को बोलने की इच्छा न रहते हुए भी लोक मे अनेक मनुष्य अनेक शब्दों का उच्चारण कर देते है। इससे भी इच्छा और ध्वनि की व्याप्ति का खडन हो जाता है। अत. भगवान् सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर के भी धर्मोपदेश मे प्रवृत्त होकर मानव-समाज का कल्याण करते थे।

धर्मोपदेश करते हुए भगवान् एक बार फिर वाराणसी नगरी मे पहुँचे। भगवान् के शुभागमन का संवाद तत्काल ही समस्त नगरी मे विद्युत्-गति से फैल गया। सहस्रों नर-नारी भगवान् के मुख-चन्द्र से झरने वाले लोकोत्तर सुधा का पान करने के लिए उमड़ पडे। भगवान् का उपदेश सुन कर सब ने अपने को कृत-कृत्य समझा। सब ने भगवान् की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए स्तुति की। उस समय बनारस मे एक सोमल नामक ब्राह्मण रहता था। उसे घोर मिथ्यात्व के उदय से भगवान् की प्रशंसा सह्य न हुई। चारो वेदो का ज्ञाता वह ब्राह्मण विद्वान अपनी विद्वत्ता के अभिमान मे डबा हुआ भगवान् के पास आ पहुँचा।

उसने भगवान् से अनेक प्रश्न किये। वे इस प्रकार हैः—

सोमल—पार्श्वनाथ जी! आपके माननीय सिद्धान्तों मे यात्रा क्या है?

भगवान्—हे सोमल! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, और ध्यान आदि आवश्यक कर्त्तव्य की प्रवृत्ति ही यात्रा है।

सोमल—अच्छा, आप यापनीय स्वीकार करते है?

भगवान्—हां, यापनीय के दो भेद है—एक इन्द्रिय यापनीय और दूसरा नोइन्द्रिय यापनीय। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र—इन पांच इन्द्रियों को संयत करना—इन पर विजय प्राप्त करना—इन्द्रिय यापनीय है। और क्रोध, मान, माया तथा लोभ जीत लेना, नो इन्द्रिय यापनीय है।

सोमल—क्या आप अव्यावाध भी मानते है?

भगवान—हां, अव्यावाध भी मानते है। वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य रोग उदय मे न आएँ—उपशान्त रहे, यह अव्यावाध है।

सोमल—आपके प्रासुक विहार भी है?

भगवान्—हां, प्रासुक विहार भी है। हम आराम, उद्यान, देव-कुल, सभा, तथा स्त्री-पशु-पंडक रहित स्थान मे ठहरते है। और निरवद्य एवं एषणीय पाट, बाजोठ, शय्या, संस्तारक आदि उपयोग मे लाते है। हमारी समस्त प्रवृत्ति प्रासुक है—जीवहिंसा से रहित है। हिंसा-जनक प्रवृत्ति अप्रासुक है। हमने उसका त्याग कर दिया है, इसलिए हमारा विहार प्रासुक है।

सोमल—भगवान्! सरिसवया भक्ष्य है या अभक्ष्य है?

भगवान्—हे सोमल! भक्ष्य है, अभक्ष्य भी है। सरिसवया दो

प्रकार के होते हैं—एक सदृशवय वाले और दूसरे सरसों नामक धान्य। समान वयस्क भी तीन प्रकार के हैं—साथ में जन्मे हुए, साथ में पाले-पोषे गये, और साथ में खेलने कूदने वाले। यह तीनों प्रकार सरिसवया अभक्ष्य है। धान्य-सरिसवया दो प्रकार के हैं—शस्त्र परिणत और शस्त्र से अपरिणत। जो सरिसवय अग्नि आदि शस्त्र से निर्जीवन न हो चुके हों वे मुनियों के लिए अभक्ष्य हैं। जो शस्त्र-परिणत हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—एषणिक और अनेषणिक। जो साधु के निमित्त निष्पन्न न किये गये हों, वे एषणिक हैं और साधु के निमित्त निष्पन्न किये गये हों, वे अनेषणिक हैं। अनेषणिक अभक्ष्य हैं। एषणिक फिर दो प्रकार के हैं—याचित और अयाचित। याचित भक्ष्य और अयाचित अभक्ष्य हैं।

सोमल—प्रभो! मास भक्ष्य है या अभक्ष्य?

भगवान्—सोमल! मास भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है। क्योंकि मास दो प्रकार का है। मास का एक अर्थ महीना है। श्रावण भाद्रपद, आसौज, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ यह बारह मास अभक्ष्य हैं। दूसरा मास (माष) का अर्थ उड़द धान्य विशेष है। वह अभक्ष्य भी है और भक्ष्य भी है। सरिसवया के समान ही उसकी भक्ष्याभक्ष्यता समझनी चाहिए।

सोमल— भगवन्! कुलत्थ भक्ष्य है या अभक्ष्य?

भगवान्—कुलत्थ भक्ष्य भी है अभक्ष्य भी है। क्योंकि कुलत्थ दो प्रकार के हैं। एक कुलत्थ अर्थात् कुलस्थ—कुलस्थ स्त्री—और दूसरा धान्य विशेष। स्त्री कुलत्थ के तीन भेद हैं, कुल-कन्या, कुलवधू और कुलमाता। यह तीनों अभक्ष्य हैं। धान्य-

विशेष रूप कुलत्थ सरिसवया के समान अभक्ष्य-भक्ष्य जानना चाहिए।

सोमल—भगवन्! आप एक हैं या अनेक? अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं या इसके प्रतिकूल? आप भूत, भावी और वर्तमान परिणमन के योग्य हैं या इसके प्रतिकूल?

भगवान्—हे सोमल! मैं द्रव्य रूप से एक हूँ और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की अपेक्षा अनेक हूँ। आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। उपयोग की अपेक्षा भूत-भावी-वर्तमान परिणमन के योग्य हूँ। मेरे समान प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टि से एक और नित्य होती है तथा पर्याय दृष्टि से अनेक और अनित्य होती हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरों से संतुष्ट होकर सोमल ब्राह्मण ने श्रावक के व्रत अंगीकार कर लिए। वह अपनी विद्वत्ता का अहंकार लेकर भगवान् के सामने आया था। पर भगवान् की वीतराग मुद्रा और उनका सन्तोषजनक समाधान सुन कर उसका अहंकार कपूर की तरह उड़ गया। उसमें नम्रता का प्रवेश हुआ और अन्त में उसने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार किया। जिसने सोमल का यह परिवर्तन देखा, उसीने आश्चर्य किया। पर भगवान् तीर्थंकर की महिमा अपार है। बड़े-बड़े उद्धत प्रतिवादी भी उनके धर्मचक्र के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। सोमल श्रावक धर्म को यथावस्थित रूप से पालने लगा।

भगवान् ने एक बार जनपद की ओर विहार किया। बनारस में साधुओं का गमन न हुआ। अतः धीरे-धीरे सोमल की श्रद्धा में फिर परिवर्तन हो गया। आज भी अनेक ग्राम और नगर ऐसे हैं, जहाँ साधुओं का विहार होता ही नहीं है, या क्वचित् होता है।

उपदेश और ज्ञान के अभाव से वहां के श्रावकों की वैसी निश्चल श्रद्धा नहीं रहती, जैसी होनी चाहिए। जिन्हें मुनिराजो का समागम हो जाता है, जो कभी-कभी मुनिराजों का उपदेश सुन लेते हैं, वे तो दृढ़ धर्मी बने रहते हैं, शेष धीरे-धीरे असन्मार्ग की ओर चले जाते हैं। असन्मार्ग पर चले जाने के बाद फिर यदि साधु-समागम होता है तो, कुछ पुनः सन्मार्ग पर आ जाते हैं,कुछ नही भी आते और उनकी संतान तो प्रायः मिथ्यामतानुयायी ही बन जाती है। अतएव जहां मुनिराज नहीं पहुँच पाते, वहांके धर्मप्रिय व्यक्तियों का कर्त्तव्य है, कि वे संघ को संभाले, उनमे ज्ञान का प्रचार करते रहें, उनकी श्रद्धा को निश्चल बनाने का पूर्ण प्रयास करते रहें। वे स्वयं मुनिराजों की सेवा में उपस्थित हो, और दूसरों को भी ले जावे। ऐसा करने से कल्याणकारी धर्म के प्रति उनकी अवस्था बनी रहेगी और धर्म की जागृति होगी। मुनिराजों का भी यह कर्त्तव्य है, कि वे एक साथ अधिक संख्या मे न विचर कर अनेक समूहों में सर्वत्र विहार करें। नगर की अपेक्षा न करके देहातों मे विचरें, वहां चातुर्मास करे और धर्म की ज्योति जगावे। वर्तमान की भांति एक-एक नगर मे दो-दो चार-चार चातुर्मास कदापि न करे और न अधिक संख्या में साथ रहें। धर्म प्रचारका समग्र भार मुनियों पर है उन्हें यह भार सावधानी से संभालना चाहिए। संगठित होकर धर्म प्रचार करने से अवश्य सफलता मिलेगी।

संतों का समागम न मिलने के कारण सोमल की श्रद्धा शिथिल हो गई। एक बार पिछली रात्रि मे उसकी नींद उड़ गई। वह सोचने लगा–'मैं ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुआ हूँ। ब्राह्मण कुल मे मेरा पालन पोषण हुआ, विवाह हुआ है। मुझे संतान का

सुख है। द्रव्य का पर्याप्त उपार्जन किया है। मैंने यज्ञ कर के सैकड़ों का होम कर दिया। सब कुछ किया, पर एक बात रह गई है। नगर के बाहर बाग-बगीचा आदि मैंने नहीं बनवाये, जहां लोग जाकर विश्राम करें, आमोद-प्रमोद करें, सैर करें, घूमें। इस कार्य को मुझे शीघ्र कर डालना चाहिए।"

सूर्योदय होते ही उसने अपना विचार कार्य रूप मे परिणत कर दिया। कुछ काल में ही सोमल की इच्छा के अनुसार उद्यान आदि का निर्माण हो गया। नगर-निवासी वहां आने लगे और सोमल यह देख-देख कर अपने को कृतकृत्य समझने लगा। उसके आनन्द का ओर छोर न रहा।

एक बार रात्रि के समय उसे फिर एक विचार आया। उसने अपने जीवन मे जो कुछ किया था उसका पर्यालोचन करते हुए उसने सोचा—'प्रातःकाल होते ही—सब से पहले मै तापस के योग्य भाण्डोपकरण तैयार कराऊँगा। तथा जाति भाइयों और मित्र जनो को दावत देकर उन सब के सामने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहस्थी का भार सौंप दूंगा। उसके बाद मै गंगाकुल वाले आश्रम मे चला जाऊँगा। और तापस दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

सूर्य का उदय होने पर उसने ऐसा ही किया, वह तापसदीक्षा ग्रहण कर तापस बन गया। दीक्षा लेते ही उसने दो दिन उपवास और एक दिन भोजन करने की प्रतिज्ञा ली। साथ ही भुजाएँ फैला कर सूर्य की आतापना लेने लगा। जब दो दिन समाप्त हो गये तब तीसरे दिन पूर्व दिशा की ओर जा कर उसने सोम महाराज की आज्ञा ली और फल-फूल लेकर फिर लौट कर वहीं आ गया, जहां वह ठहरा था। वहाँ जमीन को लीपकर, छावकर एक वेदी बनाई। गंगा मे स्नान किया और लौटकर आग सुलगाई। खाद्य

सामग्री तैयार कर वलि देकर स्वयं भोजन किया। दूसरे पारणे के दिन दक्षिण दिशा से और आगे पश्चिम और उत्तर दिशा से फल-फूल ला कर पूर्वोक्त प्रकार से पारणा करता रहा।

एक बार उसके मन मे आया, कि प्रातःकाल होने पर अपने कुल-पति से आज्ञा ले कर अपने भाण्डोपकरण साथ मे रख कर मुँह पर काठ की मुँहपत्ति बांधूँगा और सदा के लिए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दूँगा।

इस कथानक से एक वात स्पष्ट होती है। सोमल ब्राह्मण जब पार्श्वनाथ भगवान् का श्रावक शिष्य वना था। तव उसने मुँहपत्ति अवश्य बांधी होगी। क्योंकि उस समय सभी जन साधु मुखवस्त्रिका बांधते थे। इसी पूर्व अभ्यास के कारण सोमल तापस ने मुखवस्त्रिका बांधी। अन्यथा तापस सम्प्रदाय मे मुख-वस्त्रिका का प्रचलन न होने से सोमल को मुखवस्त्रिका बाँधने की कल्पना ही आना संभव न था। अलवत्ता वह जैन धर्म का अनुयायी नहीं रहा था और अपना वेष वह जैन साधु के वेष से भिन्न रखना चाहता था। इसीलिए वस्त्र के स्थान पर उसने काष्ठ की मुख वस्त्रिका रक्खी, जो ऐसे अवसरों पर स्वभाविक है।

सोमल तापस ने उत्तर दिशा मे जाते हुए यह प्रण किया था, कि मार्ग मे, जल-स्थल-पहाड़-झाड़ी-गड़हा-गुफा-आदि जो कुछ मिलेगा उससे वह पीछे नहीं हटेगा—वह लगातार उत्तर दिशा मे ही चला जायगा। यदि कहीं वह गिर पड़ेगा तो वहा से आजीवन उठेगा नहीं। इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर तापस सोमल चल पड़ा। सायकाल गंगा के तट पर उसने वेले का पारणा किया। मौनावलम्बन कर वह रात भर के लिए वहीं ठहर गया। रात्रि मे तापस के पास एक देव आया। देव ने तापस को चेतावनी दी, कि

'तापस ! तुमने उत्तर दिशा की ओर चलते रहने आदि का जो प्रण किया है, वह उचित नही है । तुम इस प्रण को त्याग दो ।' सोमल ने मौन के कारण कुछ भी उत्तर न दिया । देव ने अपनी चेतावनी तीन बार दोहराई । पर सोमल का निश्चय पक्का था । उसने देव-वाणी पर ध्यान नहीं दिया । और सूर्योदय होते ही आगे जाना शुरु कर दिया । जाते-जाते शाम हो गई । वह एक सप्तवर्ण वृक्ष के नीचे ठहर गया । यहां भी देव ने आकर वही पहले वाली वात कही । आज सोमल ने देव से पूछा—'भाई तुम मेरी प्रवृत्ति को अनुचित क्यों कर रहे हो ?' देव बोला—'सोमल तुमने सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् पार्श्वनाथ से श्रावक व्रतों को अंगीकार किया था । फिर साधुओं का संसर्ग न होने से तुमने धर्म परिवर्तन कर लिया । वह मार्ग सम्यक् था । अतएव तुम्हारी यह प्रवृत्ति अनुचित है । तुम पुन उसी सत्मार्ग को स्वीकार करो और उसी के अनुसार प्रवृत्ति करो, तो वह प्रवृत्ति सर्वथा उचित होगी ।"

जीव के जब पुण्य का उदय आता है । तब साधारण निमित्त से भी उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है, और पाप का उदय आने पर साधारण कारण से मति भ्रष्ट हो जाती है । सोमल तापस इस सच्चाई का ज्वलन्त प्रमाण है । बीच में पाप-कर्म का उदय आने के पश्चात् फिर उसके पुण्य का उदय हुआ और उसने शीघ्र ही पुनः जिन-मार्ग अंगीकार कर लिया । उसके बाद वह तपश्चर्या मे लीन रहने लगा । बेला, तेला, चौला, करना, कभी सात दिन के, कभी पन्द्रह दिन के, कभी महीने भर के उपवास करता था । इस प्रकार बहुत वर्षों तक तपोमय जीवन यापन कर के आयु के अन्त समय पन्द्रह दिन का संथारा करके उसने देह-

त्याग किया। सोमल न बीच की अपनी मिथ्या प्रवृत्ति की आलोचना नही की। अतः उसे उतना उच्च सुख न मिल पाया, जितना तपस्या के फल-स्वरूप मिलना संभव था। फिर भी वह शुक्र-विमान मे देवता हुआ। यह शुक्र देव शुक्र विमान में एक पल्योपम की आयु व्यतीत करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर वहा समस्त कर्मो का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

मनुष्य अपने विवेक के अनुसार प्राय. सन्मार्ग को स्वीकार करना चाहता है और सत्प्रवृत्ति करना चाहता है। किन्तु उसकी ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति परिमित होती है। इस परिमिति के कारण ज्ञान और अज्ञान रूप मे अनेक भूलें हो जाती है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह भूल मालूम होते ही उसकी निन्दा-गर्हा करे और उचित प्रायश्चित लेकर शुद्धि करले। जो भूले अज्ञात हों उनके लिए सामान्य रूप से पश्चात्ताप कर ले। यह शुद्धि का जिनोक्त मार्ग है। इसीलिए प्रतिक्रमण, आलोचना प्रायश्चित्त, आदि की व्यवस्था की गई है। यह क्रियाएँ मानव-जीवन को अभ्युन्नत बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनसे आत्म-निरीक्षण होता है, अपनी निर्बलता और प्रबलता ज्ञात हो जाती है और आगे क लिए सावधानी प्राप्त हो जाती है। सोमल तापस ने अपनी पहले की प्रवृत्तियो की ओर दृष्टि निपात किया होता, तो उसकी तपस्या के फल मे न्यूनता न आती।

एक बार प्रभु पार्श्वनाथ, विचरते हुए पुण्ड्र देश के अन्तर्गत साकेतपुर पधारे। उन्हीं दिनों एक विशेष घटना घटित हो गई। पूर्व देश मे ताम्रलिप्त नगरी मे बन्धुदत्त नामक एक बड़ा भारी व्यापारी रहता था। उसी शहर मे एक ब्राह्मण भी रहता था। ब्राह्मण की पत्नि कुलटा थी। उसने ब्राह्मण को विष दिलवा कर

मूर्छित अवस्था में, मृतक समझ कर एक ओर डलवा दिया। संयोग से वहां एक ग्वालिन आ पहुँची। उसने ब्राह्मण को मूर्छित देख कर और घर ले जाकर औषधोपचार किया। ब्राह्मण की मूर्छा हट गई और वह स्वस्थ हो गया। स्वस्थ होने पर उसने सोचा—संसार में कौन किसका सगा है? कौन किसका संबन्धी है? कोई नहीं। सब स्वार्थ के साझेदार हैं। जिसे मैंने अपने प्राणों से अधिक प्रेम किया पूर्ण विश्वास कर जिसे अपने सर्वस्व की स्वामिनी बना दिया, जो मेरी अर्द्धाङ्गिनी कहलाती थी, उसी ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया, तो औरों का क्या कहना है? वास्तव में यहां कोई किसी का नहीं है। सब अपने कर्मों का भोग भोगने आये हैं और भोग-भोग कर अपनी करनी के अनुसार एक दिन सभी चले जायेंगे। कोई, न किसी की रक्षा कर सकता है, न मरने से बचा सकता है। और न सुख-दुख में हिस्सा ले सकता है। ऐसे अत्राण, अशरण और निस्सार संसार से विरक्त हो आत्मश्रेय के मार्ग में लग जाना ही श्रेयस्कर है। जिसने यमराज को अपना आज्ञाकारी दास बना लिया हो, जिसे अमर होने का परवाना मिल गया हो, वह भले ही भोगों में रचा-पचा रहे। जिसकी आयु प्रतिक्षण व्यतीत होती जाती है, मृत्यु प्रतिपल सन्निकट आ रही है, उसे चैन कैसे लेना चाहिए। उसे तो समय मात्र का प्रमाद न करके शाश्वत सिद्धि के पथ पर अग्रसर होना चाहिए। मेरी स्त्री ने यद्यपि मेरा अपकार किया है, पर वह अपकार उपकार रूप बन गया। ऋषियों-मुनियों के भावमय उपदेशों से भी जिस वैराग्य की प्राप्ति होना कठिन था, वह वैराग्य उसके एक ही कार्य से प्राप्त हो गया। उसका मुझे कृतज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार विरक्त होकर ईश्वर-भक्ति में

अपना समय व्यतीत करने लगा। आयु का अन्त होने पर वह ब्राह्मण मर कर बन्धुदत्त के घर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। उसका नाम सागरदत्त रखा गया। थोड़ी ही उम्र मे सागरदत्त ने अनेक विद्याएँ और कलाएँ सीख लीं। उसे जातिस्मरण ज्ञान भी उत्पन्न हो गया। पूर्व जन्म की स्मृत्ति के कारण वह इस जन्म मे भी विरक्त भाव से रहने लगा।

ब्राह्मण की वह कुलटा स्त्री मर कर इसी नगरी में एक वणिक् के घर पर कन्या के रूप मे उत्पन्न हुई। तरुण अवस्था होने पर उसका विवाह सयोगवश सागरदत्त के साथ हो गया। पर सागरदत्त उसे पूर्व जन्म की कुलटा समझ कर उस पर अनुराग न करता था। न वह दिल खोल कर उससे बोलता और न उसे संतुष्ट करने का प्रयास करता। स्त्री इस दुःख से अत्यन्य दुःखी रहती थी। अन्त मे जब वह सर्वथा निराश हो गई, तब उसने पति को एक पत्र लिखा। उस पत्र मे उसने लिखा—आप इस निर्दोष दासी पर क्रुद्ध क्यों रहते हैं? जैसे रात्रि की शोभा चन्द्रमा से और मेघ की शोभा विद्युत से होती है, उसी प्रकार स्त्री की शोभा पुरुष से और पुरुष की शोभा स्त्री से होती है। इस प्रकार का पत्र पाकर सागरदत्त ने उत्तर मे लिखा—'मुझे स्त्रियों से घृणा है और इस घृणा का कारण है, स्त्रियो का कपट। स्त्रियां मायाविनी होती है। उनके पाश मे पड कर पुरुष को आपत्तियों का सामना करना पडता है। यही कारण है, कि मैं तुम्हे अपना हृदय अर्पण न कर सका।

सागरदत्त के इस उत्तर से उसकी स्त्री ने समझा, कि उन्हे पूर्व भव का ज्ञान है। उन्हे पहले किसी स्त्री ने धोखा दिया होगा। इसी से उन्हें स्त्री-मात्र के प्रति विरक्ति हो गई है। किन्तु यह

क्या उचित है? किसी एक स्त्री के किसी दुर्व्यवहार से समस्त स्त्रियों को मायाचारिणी और दुष्ट समझना स्त्री-जाति के प्रति अन्याय है। दूसरी बात यह है, कि यदि उन्हें स्त्री-मात्र से चिढ़ है, तो फिर विवाह-सम्बन्ध क्यों किया? उन्हें आजीवन कौमार्य रखना चाहिए था। मगर मैं अपने सद्व्यवहार से उनकी धारणा बदलने का प्रयत्न करूंगी।

इस प्रकार निश्चय करके उसने सागरदत्त को फिर एक पत्र लिखा। उसमे समस्त स्त्री-जाति के प्रति एक-सा भाव न रखने की प्रार्थना करते हुए उसने लिखा— "देव! अमावस्या को देख कर उज्ज्वल पूर्णिमा के लिए भी ऐसा ही अनुमान न कीजिए। एक स्त्री के व्यवहार को समस्त स्त्रियो की कसौटी न बनाइए। मुझे अवसर दीजिए, कि मै आपकी धारणा मे परिवर्तन कर दूं। जब आपने मुझे स्वीकार कर ही लिया है, तो अकस्मात् मेरा परित्याग न कीजिए।"

इस आशय का पत्र मिलते ही सागरदत्त के हृदय मे करुणा और स्नेह के भाव जागृत हुए। वह अपनी पत्नी को अपने घर ले आया।

सागरदत्त को समुद्र यात्रा का बड़ा चाव था। वह सात बार समुद्र-यात्रा करने गया पर सयोगवश सातों बार उसका जलयान चट्टानों से टकरा कर चूर२ हो गया। इससे उसे बड़ी निराशा हुई निराश होकर वह चुप बैठ गया किन्तु एक घटना ऐसी हुई जिससे सागरदत्त के निराशान्धकार मे आशा की एक किरण फिर चमक उठी उसने कुएँ मे से एक आदमी को पानी खींचते हुए देखा, उसने सात बार प्रयत्न किया पर सफलता न मिली। फिर भी वह हतोत्साह न होकर आठवीं बार जल खींचने मे जुट पड़ा। आठवी बार

उसे सफलता मिल गई। इस घटनाको देखकर सागरदत्तके हृदय में फिर समुद्रयात्रा की सनक सवार हुई। वह समुद्र यात्रा करने चल पड़ा। सिंहल द्वीप होते हुए वह रत्नद्वीप पहुँचा। रत्नद्वीप से रत्न खरीद कर वह लौट रहा था कि जहाज के मल्लाह के मन मे पाप जागा। उसने रात्रि के समय सागरदत्त को समुद्र में पटक दिया। मल्लाह तो जहाज को लेकर आगे चलता बना और सागरदत्त उस भीमभयकर समुद्रमें गोते खाने लगा। परन्तु जिस का आयु कर्म वलवान होता है, जिसने आयु कर्म का प्रगाढ वंध किया है, वह किसी का मारा मर नही सकता। पुण्यात्माओं के प्रखर प्रताप से अग्नि भी शीतल हो जाती है, विषधर सॉप पुष्प माला बन जाता है, विष अमृत हो जाता है और हिंस्र जंतु पालतू कुत्ते सरीखा व्यवहार करते हैं। पुण्यशाली जीव के शत्रु उसका अनिष्ट करने मे सफल नही होते। उन्हे यदि सफलता मिले तो समझना चाहिए कि जिसे हम पुण्यशाली समझते है उसका पुण्य क्षीण हो चुका है और पाप का उदय आया है। क्योंकि पुण्य-पाप का उदय स्थायी रूप से उदित नही होता। चक्र की भाति वह सदा परिवर्तित होता रहता है। अतएव पुण्य का संचय करना ही उपयोगी है, जिससे कष्टों से मुक्ति मिलती है। कई लोग अज्ञानवश पुण्य को एकान्ततः संसार का कारण समझ कर उसके त्याग करने का उपदेश देते है। ऐसे उपदेशक स्व-पर का अनिष्ट करते है। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार पुण्य शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ है—पवित्र करने वाला। इस व्युत्पत्ति के अनुसार और धर्मशास्त्र के अनुसार पुण्य आत्मा की पवित्रता का कारण होता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये अशुभ आस्रव को रोकना सर्व-प्रथम आवश्यक है और अशुभ आस्रव

का विरोध शुभास्रव से होता है। शुभास्रव पुण्य कृत्य से होता है, अतः पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है।

सागरदत्त के पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से, समुद्र में बहता हुआ एक पाटिया उसके हाथ आ गया। उस पाटिया के सहारे वह धीरे-धीरे समुद्र के किनारे आ लगा। वहां से वह पाटलीपुत्र पहुँचा। वहां उसका श्वसुर मिल गया। वह सागरदत्त को अपने ठिकाने पर ले गया। सागर ने अपनी सारी घटना-श्वसुर को कही। श्वसुर ने यथोचित उपचार किया जिससे उसका शरीर बिलकुल स्वस्थ हो गया। इतने मे वह निर्यामक-मल्लाह वहां आ पहुँचा। सागरदत्त ने पाटलीपुत्र के राजा की सहायता से निर्यामक को पकड़वा कर जहाज और जहाज का सारा माल अपने अधिकार मे कर लिया। इसके पश्चात् सागरदत्त और उसका श्वसुर दोनो अपने निवास-स्थान ताम्रलिप्त नगर में आ गये। सागरदत्त घोर विपत्ति से सकुशल वापस लौट आया, इस हर्ष के उपलक्ष मे दीन-हीन जनों को अन्न आदि दान दिया गया और उत्सव मनाया गया।

एक बार ताम्रलिप्त नगर मे मुनियों का आगमन हुआ। वे ध्यान मे मग्न थे। इन मुनियों मे से एक के ऊपर सागरदत्त की दृष्टि पड़ी। उसने मुनि से पूछा—महाराज! आप कौन हैं? देव, गुरु और धर्म का स्वरूप क्या है?

मुनिराज का ध्यान जब पूर्ण हो गया तो वे बोले—'भाई, मै कौन हूँ' यह प्रश्न बहुत व्यापक है। इसका उत्तर एक नही अनेक हो सकते है। इसका प्रथम उत्तर यही है कि जो तुम हो वही मै हूँ।

सागरदत्त—कैसे महाराज! मै और आप एक कैसे हो

सकते है ?

मुनि—भद्र ! तुम ज्ञान-दर्शनमय, अनन्त प्रदेशी आत्मा हो और मै भी इसी स्वरूप वाला आत्मा हूँ । अत जो तुम हो वही मै हूँ ।

सागरदत्त—महाराज ! आप तो बिलकुल साधारण प्रश्न के उत्तर मे दर्शन शास्त्र के गम्भीर तत्वका विवेचन कर रहे है । यह विवेचन कौतूहल-जनक है, कृपया जरा स्पष्ट समझा दीजिए ।

मुनि—जिनागम मे प्रत्येक वस्तु का दो प्रकार से परिचय दिया जाता है । एक द्रव्य दृष्टि और दूसरी पर्याय दृष्टि ही दो प्रकार है । द्रव्य दृष्टि से जब वस्तु को देखते है, तो वह सामान्य रूप–सब विशेषों मे समान रूप से रहने वाली प्रतीत होती है । उदाहरण के लिए आत्मा समझ लो । आत्मा अर्थात् जीव एक द्रव्य है । वह आत्मा समस्त प्राणियो मे विद्यमान् है । सभी के भीतर उसका ज्ञान-दर्शन स्वभाव व्यक्त या अव्यक्त रूप से मौजूद है । आत्मत्व जाति सब आत्माओं मे एक है, इस अपेक्षा से सब आत्माएँ एक है । तुम भी आत्मा हो, मै भी आत्मा हूँ । दोनो मे आत्मत्व जाति एक है, अतएव हम तुम दोनों एक है ।

सागरदत्त—दार्शनिक दृष्टि से आपका कथन सत्य है । पर लोक-व्यवहार इस प्रकार नहीं चल सकता । इस प्रकार तो पिता पुत्र, पत्नी-पुत्री, स्वामी-सेवक आदि सब एक हो जाएँगे । कोई किसी से ऋण लेगा । और उत्तमर्ण जब अपना धन वापिस मागेगा तो अधमर्ण कहेगा कि—वाह ! हम तुम एक है । किसने लिया और किससे लिया ? कौन लौटाए और क्यों लौटाए ? तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार लोक-व्यवहार का लोप हो जायगा ।

मुनि—भद्र ! तुम भूल गये। मैने दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया है। द्रव्य दृष्टि से ही उक्त कथन मैने किया था। लोक-व्यवहार पर्याय दृष्टि से होता है। एक द्रव्य की नाना पर्यायें होती है और द्रव्य भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक अनेक होता है। पर्याय से तुम और मै अलग-अलग हैं इसी प्रकार पिता-पुत्र आदि भी अलग है। अतएव पर्याय से लोक-व्यवहार मे कुछ भी अव्यवस्था नहीं होती।

सागरदत्त—ठीक है। पर्याय दृष्टि से बताइए आप कौन हैं महाराज ?

मुनि—पर्याय दृष्टि से मै मनुष्य हूॅ। पहले राजकुमार था। राजा बना। पर संसार के भोगोपयोग मुझे नीरस और परिणाम में दुखदायी जान पड़े। अतः उनका मैने त्याग कर दिया है। अब मै सर्वज्ञ भगवान् पार्श्वनाथ के संघ मे दीक्षित मुनि हूॅ।

इसके पश्चात् मुनि ने सागरदत्त को देव, गुरु और धर्म का स्वरूप संक्षेप मे समझा दिया। अन्त मे वह बोले—भद्र ! इस समय मुझे ध्यान करना है। अधिक अवकाश नहीं है। कल श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ यहां पधारेंगे। उनकी सेवा मे उपस्थित होकर विशेष तत्त्व-चर्चा करना। इतना कह कर मुनि ने फिर ध्यान धारण कर लिया। सागरदत्त अपने घर लौट आया।

दूसरे दिन भगवान् पार्श्वनाथ पधारे। नगर मे यह संवाद पहुॅचते ही राजा, मंत्री, राजकर्मचारी और नागरिक-जन वर्षाकालीन नदी की भांति उमड़ पड़े। सागरदत्त भी वहां जा पहुॅचा। भगवान् पार्श्वनाथ ने देव, गुरु और धर्म का सुस्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया। सागरदत्त भगवान् का उपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गया। उसने धन-धान्य और

का परित्याग कर साधु-वेष पहन लिया। हाथ मे पात्रों की झोली ले ली और मुख पर मुखवस्त्रिका वांध ली। बगल मे रजोहरण ले लिया। इस प्रकार वेष धारण कर वह भगवान् के संघ मे दीक्षित हो गया। उसने विशेष तपश्चर्या और ज्ञान-ध्यान की आराधना करके अल्प काल मे ही कृत्स्न कर्म क्षय कर मुक्ति श्री को प्राप्त किया।

एक वार शिवचन्द्र, सुन्दर सौभाग्यचन्द्र और जयचन्द्र नामक चार मुनियों ने भगवान् के निकट जाकर, विधिवत् वन्दना आदि व्यवहार करके भगवान् से पूछा—'भगवन्! आप सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी है। संसार का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोई भी ऐसा भाव नही है जो आपके केवल ज्ञान मे न झलक रहा हो। अनुग्रह करके हमे वताइए, कि इसी भव मे हम लोगो को मोक्ष प्राप्त होगा या नही? प्रभु ने कहा—'तुम चारो इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करोग।

सर्वज्ञ भगवान् ने इसी भव से मोक्ष मे जाने का विधान कर दिया। तव मुक्ति रुक ही कैसे सकती है? जब मुक्ति अवश्यमेव प्राप्त होगी अनशन आदि विविध प्रकार की तपस्या का कष्ट क्यों उठाया जाय? आनन्द से रह कर ही मुक्ति क्यों न प्राप्त की जाय? भगवान् का कथन अन्यथा कदापि नही हो सकता। ऐसा विचार करके उनके विचार सयम से शिथिल हो गये। कुछ दिनों तक शिथिलाचार सेवन करके उनके मन मे परिवर्तन हो गया। भावी को कोई टाल नहीं सकता। उन्हे इसी भव मे मोक्ष मिलना था अतएव उनके परिणामो मे फिर उत्कृष्ट संयम पालने की इच्छा जागृत हुई। उन्होंने अपनी शिथिलता के लिए पश्चा-त्ताप प्रकट किया और संयम के आराधन मे विशेष रूप से तत्पर हो गए। अन्त मे चारों मुनि कर्मों की जजीर को छिन्न-

भिन्न करके सिद्ध-बुद्ध होकर लोकाग्र में विराजमान हुए।

उन्हीं दिनों नागपुरी नगरी मे धनपति नामक एक वणिक् रहता था। उसके प्राणों से प्यारा एकलौता पुत्र था। उसका नाम था-बन्धुदत्त। धनपति ने अपने पुत्र का विवाह वसुनन्द वणिक की पुत्री चन्द्रलेखा के साथ किया। पाप कर्म का उदय आने से वह कन्या सर्प के काटने से शीघ्र ही मर गई। इसी प्रकार अन्यान्य पांच कन्याएँ भी बन्धुदत्त के साथ विवाह होते ही एक ही वर्ष मे मृत्यु को प्राप्त हुईं। उसके बाद किसी ने भी अपनी कन्या बन्धुदत्त को न दी। वह विधुर अवस्था मे अकेला रहता हुआ अपने भाग्य को कोसने लगा। धनपति ने देखा, कि लड़का इस प्रकार खिन्न रहेगा तो भविष्य मे अनेक हानियां होंगी। अतः उसकी चित्त-वृत्ति को दूसरी ओर लगाने के लिए धनपति ने व्यापार के निमित्त विदेश जाने का परामर्श दिया। वह विदेश चला गया। व्यापार में उसे खूब धन हाथ लगा। बन्धुदत्त उपार्जित धन लेकर जहाज द्वारा लौट रहा था कि समुद्र में तूफान आ गया। तूफान के कारण जहाज फट गया। बन्धुदत्त एक पटिया के सहारे-सहारे रत्नद्वीप मे जा पहुँचा। वहां फल-फूल का आहार करके रत्नों की खोज में वह घूम रहा था, कि एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुनिराज पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह मुनिराज के समीप पहुँचा और नमस्कार कर उन्हें अपनी कष्ट-कथा सुनाई। मुनिराज ने कहा—'संसार तो आपत्तियों का घर है। किसी पर आपत्ति न आना आश्चर्यजनक बात हो सकती है, आपत्ति आना तो यहां स्वाभाविक है। किन्तु आत्मा मे अनन्त पराक्रम है। मनुष्यको चाहिए, कि वह पराक्रम की अभिव्यंजना करे। आपत्तियों का सामना करने की जिसे क्षमता प्राप्त हो जाती है उसके लिए आपत्ति

आपत्ति नहीं रहती। वीर पुरुष आपत्ति को खिलवाड़ समझ कर हसते-हंसते उसे जीत लेता है। कातर पुरुष रोता-चीखता हुआ राई-सी आपत्ति को भी पहाड़ के बराबर बना लेता है। अतः आपत्ति आने पर वीरता और धीरता के साथ उससे युद्ध करना चाहिए। फिर भी यह समझ लेना भूल होगी, कि एक आपत्ति पर विजय प्राप्त कर लेने से कोई सदा के लिये उससे मुक्त हो जायगा। संसार मे रहते हुये ऐसा कभी संभव नहीं है। यह तो तभी ही संभव है, जब आपत्ति के मूल को उखाड फेंका जाय। आपत्ति के मूल कर्म है। अतः हे भद्र ! जब तक तुम संसार मे हो तब तक आपत्ति आ पड़ने पर हताश और कातर न बनो। धर्म का शरण ग्रहण करो।

इस प्रकार मुनिराज का सान्त्वनाप्रद प्रवचन सुन कर बन्धुदत्त के चित्त मे तसल्ली हुई। इसी समय चित्रागद नामक एक विज्ञान वेत्ता—विद्याधर वहां आया। उसने मुनिराज को भक्ति-भाव के साथ वदना की। बन्धुदत्त जैसे दूर देशवासी साधर्मी बन्धु को पाकर उसे और अधिक आनन्द हुआ। उसने कहा—बन्धुवर ! चलो। कृपा कर मेरी कुटिया को पवित्र करो। वहीं आप भोजन करना। कुछ दिनों यहीं ठहरिये और मुनिराज के कल्याणकारी उपदेश से लाभ उठाइए। इस प्रकार बडी प्रीति के साथ वह बन्धुदत्त को अपने घर ले गया। वहाँ उसका यथेष्ट हार्दिक स्वागत किया।

अपने नाते-रिश्तेदारों का, जातीय व्यक्तियों का या कुटम्बी जनों का भोजन आदि के द्वारा जो सत्कार किया जाता है। वह सांसारिक उद्देश्य से होता है। उसमे स्वार्थ का भाव भी रहता है। वह एक प्रकार का लेन-देन सा है। परन्तु साधर्मी सज्जन के

सत्कार में धर्म भावना रहती है। अतः स्वधर्मी का यथोचित स्वागत-सत्कार करना एक प्रकार का धर्म-कृत्य है, और इस से मुक्ति निकटवर्ती हो जाती है।

एक बार चित्रांगद ने बन्धुदत्त से कहा—आप इतनी दूर आये है। मै बिना भेट दिये आपको कदापि न जाने दूंगा। सो या तो आप मुझ से गगन-गामिनी विद्या सीख ले या किसी कन्या के साथ विवाह करना स्वीकार करें। कन्या मै खोज दूंगा। बन्धुदत्त, चित्रांगद का स्नेह पूर्ण आग्रह देख कर मुस्करा दिया। इसी समय चित्रांगद की भगिनी सुवर्ण लेखा ने कहा—यदि भाई बन्धुदत्त का विवाह करना है तो कन्या मै बतलाए देती हूँ।

सुवर्ण लेखा कहती गई—"कौशाम्बी नगरी में जिनदत्त नामक एक श्रावक हैं। वह धन-धान्य से सम्पन्न हैं। जिन-मार्ग के अनुयायी और बारह व्रतधारी हैं। उनके प्रियदर्शना नामक एक कन्या है। वह मेरी सखी है। एक बार उसके पिता ने किसी से उस कन्या का भविष्य पूछा था। भविष्य-वेत्ता ने कहा था कि विवाह के पश्चात् इस कन्या के एक पुत्र होगा और फिर यह कन्या संयम ग्रहण कर लेगी। मैंने ऐसा सुना है। कन्या से मै परिचित हूँ। वह बड़ी सुशीला है, सुन्दरी है और धर्मनिष्ठा है। उसी के साथ भाई बन्धुदत्त के विवाह का प्रबन्ध कर दो।

चित्रांगद के आन्तरिक स्नेहमय आग्रह के सामने बन्धुदत्त को झुकना पड़ा। दोनों कौशाम्बी मे आये। वहां विराजमान् मुनियों के दर्शन किये, उपदेश सुना। वहाँ जिनदत्त श्रावक मौजूद थे। उन्होने विदेश से आए हुए दोनों स्वधर्मियो को अपने घर ले जा कर प्रेम के साथ भोजन कराया। खूब आवभगत की और अन्त मे उनके आगमन का उद्देश्य पूछा। चित्रांगद ने

कहा--'भाई ! बन्धुदत्त एक श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुए हैं और आप का कुल भी उत्तम है। आपके एक कन्या है। उसका विवाह आप बन्धुदत्त के साथ करना स्वीकार करें तो 'योग्यं योग्येन योजयेत' अर्थात् योग्य का योग्य के साथ संबन्ध होना चाहिए, यह उक्ति चरितार्थ होगी।

जिनदत्त ने बन्धुदत्त की उचित परीक्षा करके जब सब प्रकार से योग्य पाया, तो उसे अपनी कन्या व्याह दी। विवाह-कार्य जब सानन्द सम्पन्न हो गया, तो चित्रांगद निश्चिन्त होकर प्रसन्नता पूर्वक अपने घर लौट आया। बन्धूदत्त ससुराल मे रहने लगा। कुछ दिन वहाँ व्यतीत होने पर बन्धुदत्त ने अपने घर जाने की आज्ञा मांगी। आज्ञा मिल गई। और उसने अपना उपार्जित तथा दहेज में प्राप्त धन साथ लेकर प्रस्थान कर दिया। उसकी पत्नी प्रियदर्शना भी साथ थी। वह उस समय गर्भवती थी। मार्ग अत्यन्त भयानक था। बन्धुदत्त किसी प्रकार उस मार्ग को तय कर विश्राम के लिए एक तालाब के किनारे बैठा हुआ था, कि उस बीहड़ बन मे रहने वाले डाकुओं के एक गिरोह ने आकर उसे घेर लिया, सारा माल लूट लिया, स्त्री को भी लेकर भाग गये। प्रियदर्शना के साथ सारा लूट का धन लेकर वे पल्लीपति अपने मुखिया के पास पहुँचे। पल्लीपति प्रियदर्शना को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह काम से पीड़ित हो गया। उसने प्रियदर्शना को अपनी पत्नी बनाना चाहा। उसने प्रियदर्शना से पूछा—'तुम कौन हो, और कहाँ रहती हो?' प्रियदर्शना ने उत्तर दिया—'मैं कौशाम्बी मे रहती हूँ। मेरे पिता का नाम जिनदत्त है।' जिनदत्त के नाम मे जैसे जादू भरा था। पल्लीपति यह नाम सुन कर एक-दम पलट गया। प्रियदर्शना पर उसकी जो पापमयी

दृष्टि थी वह कपूर की तरह विलीन हो गई। वह एक-दम उठा और बोला—'बहिन! सचमुच तुम मेरी भगिनी हो। जिनदत्त का मुझ पर असीम उपकार है। मैं उनका आजीवन ऋणी हूँ।

पल्लीपति कहता गया—मैं अपने कुछ साहसी आदमियों को साथ लेकर कौशाम्बी जा रहा था। हम लोगों ने कौशाम्बी में धावा मारना निश्चित किया था। मार्ग में हम मद्यपान कर पागल बने बैठे थे। इतने में ही वहाँ कौशाम्बी की पुलिस आ धमकी। पुलिस के आते ही मेरे सब साथी इधर-उधर भाग गये। अकेला मैं रह गया। पुलिस ने मुझे पकड़ कर राजा के सन्मुख उपस्थित किया। राजा ने मुझे प्राण-दण्ड सुना दिया। क्योंकि मैं महाशक्तिशाली डाकू समझा जाता था। यह खबर किसी प्रकार जिनदत्त के पास पहुँची। वह मृदुल हृदय और दयालु है। उसने मुझे बचाने के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया और अन्त में बचा ही लिया। उसी दिन से जिनदत्त को मैं अपना जीवनदाता पिता समझता हूँ। अतएव बहिन प्रियदर्शना! तुम्हारे पिता का मुझ पर अपार उपकार है। तुम अब किसी प्रकार की चिन्ता न करो। समझ लो, अपने सहोदर भाई के सामने खड़ी हो। निर्भय होकर बताओ—अब तुम क्या चाहती हो?

प्रियदर्शना के प्राण सूख रहे थे। उसका हृदय काँप रहा था। धन की उसे चिन्ता न थी। प्रथम तो पति का वियोग उसे असह्य हो रहा था, दूसरे उसका सतीत्व भी सुरक्षित न था। इन दोनों चिन्ताओं ने उसे बुरी तरह घेर रखा था। पर पल्लीपति की बात से उसे ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे किसीको सिंहके मुख से सकुशल लौट आने पर प्रसन्नता होती है। उसने सबसे पहले

अपने पति को खोज लाने की इच्छा प्रगट की। तत्काल ही पल्ली-पति ने अपने आदमियों को आज्ञा दी, कि वन्धुदत्त को खोज लाओ। आदमी चारों ओर दौड़े और वन्धुदत्त को ढूंढ लाये। प्रियदर्शना अपने प्राणप्रिय पति को पा कर अतीव प्रसन्न हुई। पल्लीपति ने वन्धुदत्त से कहा—भाई वन्धुदत्त! अनजान में जो अपराध वन गया है, उसके लिए मुझे वड़ा संताप है। पर पहले यह वताओ, कि तुम्हारे ऊपर मेरे आदमियों ने जव आक्रमण किया, तव तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आई है? शस्त्र आदि का कोई घाव तो कहीं नहीं हो गया है?

वन्धुदत्त ने कहा—नहीं, भगवान् पार्श्वनाथ और जिनधर्म के प्रसाद से मेरी रक्षा हुई। मुझे न कोई चोट लगी है, न घाव हुआ है।

पल्लीपति ने मन ही मन सोचा—"जिनके प्रसाद से वन्धु-दत्त, इतना कठोर आक्रमण होने पर भी सकुशल वच गया, उनका दर्शन कितना पावन होगा? अवश्य ही उनके दर्शन से और उनके द्वारा प्ररूपित धर्म का आचरण करने से, मनुष्य को लोकोत्तर सुख की प्राप्ति हो सकती है। मैं भी एक वार पार्श्वनाथ भगवान् का दर्शन क्यों न करूं?

पल्लीपति ने अपनी इच्छा वन्धुदत्त के सामने प्रकट की। भगवान् उस समय नागपुरी में विराजमान थे। वन्धुदत्त, प्रिय-दर्शना और पल्लीपति चन्द्रसेन—सव मिल कर प्रभु के पास आये। भगवान् का दर्शन होते ही पल्लीपति के हृदय पर स्वच्छता की छाप पड़ी। उसके हृदय में उज्ज्वल भावनाएं जागृत हो उठीं। हृदय आमूल परिवर्तन हो गया। सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार का पटल विलीन हो जाता है। इसी

प्रकार भगवान् का दर्शन होते ही उसके अन्त:करण की मलीमस भावनाएँ नष्ट हो गईं। भगवान् का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् तो जो कुछ कमी भी थी, वह भी पूरी हो गई। पल्लीपति का हृदय अब पूर्ण उज्ज्वल, प्रशान्त और संतुष्ट हो गया था।

बन्धुदत्त ने भगवान् से पूछा—"देवाधिदेव ! मैंने अब तक जो यातनाएँ भुगती हैं, उनका कारण क्या है ?

भगवान् ने फरमाया—"विन्ध्याचल पहाड़ पर शिखरसेन नामक एक जमीदार रहता था। उसकी पत्नी का नाम चन्द्रावती था। शिखरसेन सातों व्यसन सेवन करने में निपुण था। एक बार कोई मुनि विहार करते समय रास्ता भूल कर उधर जा पहुँचे। शिखरसेन ने उन से पूछा—आप कौन हैं और यहां क्यों आये हो ? मुनिराज ने अपना परिचय देकर मार्ग भूल जाने की बात कही। जमीदार की पत्नी ने मुनिराज को आहार-पानी बहरने के लिए अपने पति से कहा, पर उस समय आवश्यकता न होने से मुनि ने ग्रहण नहीं किया। मुनिराज बोले—भाई शिखरसेन ! हम निर्ग्रन्थ मुनि हैं। तुम्हें भेट देने योग्य उपदेश ही हमारे पास है। तुम दो बातें सदा करना। एक तो णमोकार मंत्र और भगवान् पार्श्वनाथ का जाप किया करना और दूसरे जीवहिंसा न करना। प्रत्येक प्राणी, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, मनुष्य हो या पशु या कीड़ा-मकोड़ा ही क्यो न हो, सुख चाहता है। जैसे हमे दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है, उसी प्रकार सब जीवों को सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है। हम जैसे दूसरों से अपने प्रति प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार चाहते है, वैसे ही दूसरे जीव भी हम से यही चाहते हैं। सब जीव समान हैं पर मनुष्य उन सब में अधिक विवेकवान् होने के कारण सब का बड़ा भाई कहा जा

सकता है । बड़े भाई का कर्त्तव्य छोटे भाइयों को पीड़ा पहुँचाना नहीं है किन्तु उन्हें सुख पहुँचाना, उनकी रक्षा करना है । जो मनुष्य इस कर्त्तव्य का अन्तःकरण से पालन करता है, वह दूसरे प्राणियों का ही हित नही करता पर अपना भी हित करता है। हिंसा घोर पातक है। हिंसक मनुष्य अपनी आत्मा को पापमय बना कर दुःख का भागी होता है। अहिंसा की आराधना करने से इस लोक और परलोक में सुख मिलता है । इसलिए अपने सुख के लिए भी हिंसा का त्याग करना चाहिए । देखो, जब तुम्हारे पैर मे छोटा सा काँटा लग जाता है, तो तुम तिलमिला जाते हो। तब निरपराध दीन-हीन प्राणियों के शरीर में भाला घुसेड़ने पर उन्हें कितनी घोर वेदना होती होगी ? बेचारे पशु मनुष्य का बिगाड़ते भी क्या है ? वे न किसी प्रकार का संचय करते हैं, न परिग्रह जोड़ते है। उन्हें पेट-भर खाना चाहिए । जंगल के घास-फूस से अपना निर्वाह कर लेते हैं । फिर भी मनुष्य उन्हे शान्ति से नही रहने देता, यह कितने शोक की बात है ? इसलिए मै कहता हूँ—भाई शिखरसेन ! हिंसा न करो। सुख से रहो, और दूसरो को भी सुख से रहने दो । भगवान् पार्श्वनाथ का यही उपदेश है।'

मुनिराज इस प्रकार प्रतिबोध देकर, वहाँ से चल दिये। शिखरसेन दूर तक उन्हें पहुँचाने आया और उसने तभी से हिंसा का त्याग कर णमोकर मंत्र का जाप करना आरम्भ कर दिया।

एक बार शिखरसेन अपनी पत्नी के साथ, पहाड़ों मे बहने वाली नदी मे जल क्रीड़ा करने गया। अचानक वहां एक सिंह आ गया। उसने दोनो को अपने पंजों से आहत कर दिया। उस

समय दोनों ने णमोकार महामंत्र में ही अपना चित्त लगा दिया। इस अवस्था में मरने के कारण दोनों प्रथम देव लोक में देव-देवी के रूप में उत्पन्न हुए। दोनोंकी आयु एक पल्य की थी। वहां स्वर्गीय सुखों का संवेदन कर के आयु पूर्ण होने पर शिखरसेन का जीव विदेह क्षेत्र में चन्द्रपुरी के राजा कुशमृगांक के यहां पुत्र हुआ। वहां उसका नाम मीनमृगांक रखा गया। चन्द्रावती देवी मर कर कुशमृगांक के सामंत राजा भूषण के घर कन्या हुई। उसका नाम बसन्तसेना रखा गया। दोनों राज-घराने में सुख पूर्वक बाल्यकाल व्यतीत करके क्रमशः यौवन वय में आये। दोनों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध हो गया। आर्य-सभ्यता की प्राचीन परिपाटी के अनुसार कुछ दिनों बाद राजा कुशमृगांक ने अपना समस्त राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र मीनमृगाङ्क को सौंप दिया और आप दीक्षित होकर आध्यात्मिक साम्राज्य की प्राप्ति के लिए जुट गया।

समस्त राज सत्ता अब मीनमृगांक के हाथ में थी। सत्ता पाकर विवेक, धर्म, नीति और कर्त्तव्य का अनुसरण करना बड़ा कठिन है। सत्ता या प्रभुता मे एक प्रकार का ज़हर है। उस ज़हर को पचा लेना प्रत्येक का काम नहीं। पर जो उसे पचा लेते हैं, वे मानव-समाज मे आदरणीय हो जाते हैं। जो नहीं पचा पाते, उनकी दशा अत्यन्त दारुण होती है प्रभुता का वह विष दुराचार अत्याचार के रूप मे फूट निकलता है। मीनमगांक्क उस विष को पचा न सका। अतएव वह उसके कार्यों के द्वारा फूट निकला। उसने अपने अत्याचारों द्वारा प्रजा मे त्राहि-त्राहि मचवा दी। अपने मनोरंजन के लिये वह सैकड़ों निरपराध प्राणियों का घात करने लगा। अन्याय और अत्याचार मानो उसके नित्य-कर्म

बन गये। इस उग्र पाप के कारण उसके शरीर में दाह ज्वर हो हो गया और अन्त में तीव्र वेदना के साथ मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

वसन्तसेना ने मोह के वश होकर पति-वियोग के कारण आग में जल कर अपने जीवन का अन्त कर दिया। अनेक अज्ञानी प्राणी, विधवा के अग्नि-प्रवेश को संगत मानते और आग में जलने वाली स्त्री को 'सती होना' कहते हैं। यदि सचमुच आग में जलने पर ही स्त्री सती होती हो, तो आग में न जलने वाली सधवा स्त्री कोई भी सती न कहलाएगी। पर वास्तव में सतीत्व का यह अर्थ नहीं है। जो स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों पर पिता-भ्राता या पुत्र का भाव रखती है, जो एक देश ब्रह्मचर्य का पालन करती है, जो अपने धर्म-विरुद्ध कुलाचार का पालन करती है, वही स्त्री सती है। विधवा होने के पश्चात् अथवा सधवा-अवस्था में ही जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करती है, वह महासती का पद पाती है। आग में जल मरना सतीत्व का चिह्न नहीं है। वह तो तीव्रतर मोह का फल है। इस मोह के कारण किया जाने वाला आत्मघात, दुर्गति में ले जाता है। वसन्तसेना ने आत्मघात किया, इसलिए उसे भी छठे नरक में उत्पन्न होना पड़ा।

राग हो गया। दोनो ने श्रावक धर्म को धारण कर लिया । दोनों पति-पत्नी श्रावक-धर्म की आराधना करके पांचवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहां की आयु समाप्त करके तुम वणिक कुल मे उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा नाम वन्धुदत्त रखा गया है। हे वन्धुदत्त ! मीनसमांक के भव मे तुमने घोर हिंसा का आचरण किया था। अनेक हिरन-हरनियों की हत्या की। उन्हें विछोह की वेदना पहुँचाई । भांति-भांति के अत्याचार करके राजा के पद को तुमने कलंकित किया था। उसी के फल स्वरूप तुम्हें यह कष्ट भोगने पड़े हैं।

मुनिराज के मुखारविन्द से अपने पूर्व भवों का वृत्तान्त सुन कर अपने पूर्ववर्ती दुराचार के लिए उसे हार्दिक संताप हुआ उसने तीव्र पश्चात्ताप प्रगट किया । पश्चात्ताप प्रगट करते ही उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसे भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा बताया हुआ वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ज्ञात हो गया। इस कारण वन्धुदत्त के मन में भगवान् के प्रति प्रगाढ़तर श्रद्धा उत्पन्न हो गई। हर्ष-विषादमय श्रद्धा-भाव के जागृत होने पर उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

तत्पश्चात् चन्द्रसेन रुंधे हुए कंठ से बोला—"हे अशरण-शरण। हे पतित-पावन। मै बड़ा पातकी हूँ । मेरे पापों का ओर-छोर नहीं है। मैने एक नहीं, दो नहीं-सातों दुर्व्यसनों का सेवन किया है। हाय! मैने बडे अत्याचार किये। बडा अन्याय किया। न जाने कितनों के प्राणों का घात किया और कितनों का धन लूट कर उन्हें दर-दर का भिखारी वना डाला । मैने मानवता को तिलांजली देकर दानवता को अपनाया । प्रभो ! मै इतने पापों का गुरुत्तर भार लाद कर संसार सागर के पार कैसे पहुँचूंगा ?

दीनदयालु भगवान् पार्श्वनाथ ने फरमाया—"हे भद्र ! सुबह का भूला शाम को ठिकाने पहुँच जाय तो वह भूला नहीं कहलाता, ऐसा लोक-प्रवाद है। तुम ने अज्ञान अवस्था मे पाप किये है। अब तुम सन्मार्ग पर आगये हो। वीतराग-धर्म पतितपावन है। इसका आश्रय लेकर नीच-ऊँच, अधम-उत्तम सभी दुखों से मुक्त हो सकते है। गत काल के कृत्यों पर पश्चाताप करके आगामी काल को सुधारना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। तुम इस कर्त्तव्य का पालन करो। यही हित का, सुख का और शान्ति का मार्ग है। घोर से घोर पापी इस मार्ग का सहारा लेकर तिर गये है।"

वन्धुदत्त ने पूछा—'प्रभो ! अनुग्रह करके यह भी वताइए, कि आगामी भव मे मेरी क्या गति होगी ?' भगवान् ने फरमाया—

तुम इसी जन्म मे संयम धारण करके पांचवें स्वर्ग मे देव होओगे। वहाँ दिव्य ऐश्वर्य का भोग करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर चक्रवर्ती बनोगे। चक्रवर्ती के अखंड साम्राज्य के अधीश्वर बन कर फिर उसे त्याग कर जैन दीक्षा धारण करोगे। जैनेन्द्री दीक्षा का विधिवत् पालन करके अन्त मे सिद्ध, बुद्ध होओगे। चन्द्रसेन भी वहां दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

भरागांव के निवासी अशोक माली के जीव ने भी पार्श्व प्रभु से अपने पूर्व भवों का वतान्त श्रवण कर अपनी आत्मा का उद्धार किया।

निर्वाण

इस प्रकार अनेक पापी जीवो को सन्मार्ग पर लगाकर प्रभु ने

उनका उद्धार किया। भगवान् के समय धर्म के नाना भ्रान्तरूप फैले हुए थे। लोग यज्ञों मे हिंसा करके और अज्ञान तपस्या करके अपने को कृत-कृत्य समझने लगते थे, सैंकड़ों वाल-तपस्वी सर्वत्र अपना अड्डा जमाये हुए थे और जनता के समक्ष मनचाही धर्म प्ररूपणा करके अपना स्वार्थ-साधन करते थे। अहिंसा,संयम और तप रूप वास्तविक धर्म को लोगों ने विस्मृत कर दिया था। प्रभु ने इन सब भ्रान्तियों का निराकरण किया। उनके द्वारा सद्धर्म का प्रचार हुआ। अहिंसा, सत्य आदि की प्रतिष्ठा हुई। संयम और तपस्या का मार्ग खुल गया। सभी लोग जिन धर्म का शरण लेकर आत्महित के प्रशस्त पथ मे अग्रसर हो गये।

भगवान ने अरिहंत अवस्था में पुष्पचूला आदि ३८ हजार महिलाओं को तथा आर्यदत्त गणधरादि सोलह हजार व्यक्तियों को मुनिधर्म मे दीक्षित किया। सूर्य प्रभृति एक लाख चौसठ हजार गृहस्थों को वारह व्रतधारी श्रावक वनाया। तीन लाख उनचालीस हजार महिलाओं को देशविरति संयम देकर श्राविका वनाया। सोलह हजार मुनियों में एक हजार मुनि केवलज्ञानी थे, साढ़े सातसौ मुनि मन:पर्याय-ज्ञानी थे और चौदह सौ मुनि अवधिज्ञानी थे। साढ़े तीन सौ मुनि चौदह पूर्व के वेत्ता थे। ग्यारह सौ मुनि वैक्रिय लब्धि के धनी थे। छह सौ मुनि वाद-विवाद करने वाले प्रखर वाग्मी थे और शेष मुनि ज्ञान-ध्यान-तप करने वाले थे।

भगवान् पार्श्वनाथ के साधु पांच वर्णों में से किसी भी वर्ण का वस्त्र पहन-ओढ़ सकते थे। चाहे वे वस्त्र वहुमूल्य हों या अल्प मूल्य हों,पर मुनियों को उन पर किसी प्रकार का रागद्वेष न

था । वे दोनों को समान समझ कर ग्रहण करते थे। उस समय के सब साधु, प्रकृति से अत्यन्त भद्र थे। उनका हृदय कोमल था। हठी बिलकुल न थे। अत. पाप लगता तो प्रतिक्रमण करते थे और न लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते थे।

जगत् के जीवों को धर्म-पथ बता कर जब भगवान् ने अपनी आयु पूर्ण होने आई देखी,तो वे सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे। वहां पर उन्होने एक मास का संथारा लिया। उनके साथ अन्य तेतीस मुनियों ने भी संथारा लिया। श्रावण शुक्ला अष्टमी का दिन था, विशाखा नक्षत्र था। आसन के कांपने से स्वर्ग से अगणित देव-देवी भगवान की सेवा बजाने और उनकी पावन मुद्रा का अन्तिम दर्शन करने के लिए आये। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे स्वर्गलोक खाली हो गया है और समस्त देव-देवियां मध्यलोक से आ गये है। इसी दिन मध्यलोक का प्रखर प्रकाश अन्तर्हित हो गया। देवाधिदेव पार्श्वनाथ ने शुक्ल ध्यान का आलम्बन किया, शैलेशीकरण किया, योगो का पूर्ण निरोध किया और चौदहवे गुणस्थान मे पहुँच कर अन्त मे सिद्धि प्राप्त की। तेतीसों मुनियों के चार घातिया कर्म नष्ट हो गये। उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। और उसके अनन्तर थोड़े ही समय के पश्चात् वे भी परम पद को प्राप्त हुए।

मनुष्यो और देवो ने मिलकर भगवान् का निर्वाण-कल्याणक मनाया और सब अपने-अपने स्थान पर चले गये।
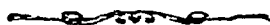
परिशिष्ट

भगवान् पार्श्वनाथ का विक्रम सम्वत् पूर्व ७२० में निर्वाण होने के पश्चात् उनके पद पर उनके प्रधान शिष्य गणधर शुभदत्त विराजमान हुए। गणधर श्री शुभदत्त के अनन्तर श्री हरिदत्त, श्री आर्यसमुद्र और अन्त में आचार्य श्री केशी श्रमण पद पर सुशोभित हुए। श्रीकेशी श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ के पाट पर विराजते थे, तब श्री वीर भगवान का आविर्भाव हो चुका था। सुप्रसिद्ध सूत्र श्री उत्तराध्ययन में गौतम स्वामी और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तरों का उल्लेख पाया जाता है। इन प्रश्नोत्तरों के आधार पर कुछ विद्वानों ने अनेक प्रकार के भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगों का कथन है, कि भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर की परम्परा भिन्न-भिन्न थी। इस सम्बन्ध मे हमने इस ग्रन्थ की आदि में थोड़ा-सा विचार किया है। यहां भी इसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है, जिससे वास्तविकता का पता सर्व साधारण को चल सके।

प्रत्येक तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सर्वज्ञ होने पर ही धर्म का उपदेश देते हैं, और दो सर्वज्ञों का एक ही विषय का कथन, परस्पर विरोधी नही हो सकता। क्योंकि सत्य अखंड है, अविरुद्ध है। उसमें विरोध का अवकाश नहीं है। भ० पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी सर्वज्ञ थे। अतएव उनके कथन विरोधी नहीं हो सकते।

तीर्थंकर भगवान् आत्मा के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान आदि दोषों को नष्ट करने का तथा वस्तु को वास्तविक रूप का उपदेश देते हैं। इस उपदेश में सामयिक परिस्थिति का भेद भी

कोई भेद उत्पन्न नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है। राग आदि दोषों को दूर करना सब कालो मे समान है। उन्हें दूर करने का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी सब कालों मे समान है। धर्म वस्तु का स्वरूप है और वस्तु मौलिक रूप मे त्रिकाल तथा त्रिलोक मे समान होती है अत: उसका स्वरूप भी देश काल के अनुसार परिवर्तन नहीं होता। जब वस्तु स्वरूप सदैव वही है और उसी का यथार्थ प्रतिपादन तीर्थंकर भगवान् करते हैं, तब दो तीर्थंकरों के कथन परस्पर विरोधी किस प्रकार हो सकते है? ऐसी स्थिति मे गौतम स्वामी और केशी स्वामी के प्रश्नोत्तरो से दोनों तीर्थंकरों के उपदेश मे विरोध की कल्पना करना नितान्त अनुचित और असंगत है।

शका—यदि दोनो तीर्थंकरों के उपदेश मे विरोध नहीं था, तो भ०पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का और भ०महावीर ने पांच महा व्रतो का उपदेश क्यों दिया? क्या यह उपदेश परस्पर विरोधी नहीं है?

समाधान—दोनों उपदेशो मे अणुमात्र भी विरोध नहीं है। एक मनुष्य अठन्नी की विवक्षा करके कह सकता है, कि एक रुपये के दो खंड होते हैं। दूसरा एक अठन्नी और दो चवन्नियों की अपेक्षा एक ही रुपये के तीन खंड बना सकता है। इसी प्रकार चार-पाच छः-आदि खंड किये जा सकते है, फिर भी रुपया अठन्नी आदि के स्वरूप मे जरा भी विरोध नहीं होता। इसी प्रकार सर्व विरति के विभिन्न विवक्षाओ से अनेक विकल्प किये जा सकते हैं, पर उनमे विरोध तनिक भी नहीं होता। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश के अनुसार ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनो एक अठन्नी मे दो चवन्नियो के समान एक ही विकल्प मे सम्मिलित

थे और भगवान् महावीर के उपदेश में एक अठन्नी की दो चवन्नी के समान दोनों महाव्रत अलग-अलग गिने जाते हैं। दोनों के उपदेश में, वस्तु-स्वरूप में कुछ भी भिन्नता या विरोध नहीं है, यह तो केवल गणना का काल्पनिक भेद है। जो शिष्यों को समझाने के सुभीते के लिए अपनाया गया है। भ० पार्श्वनाथ ने यदि अब्रह्मचर्य को धर्म माना होता तो वस्तु के स्वरूप में भेद कहलाता, परन्तु ऐसा उपदेश कोई तीर्थंकर तो क्या, सामान्य विद्वान् भी नहीं दे सकता। अतएव चातुर्याम और पंचयाम के आधार से दोनों तीर्थकरों के उपदेश में कुछ भी भेद नहीं है।

शंका—कोई-कोई ऐसा मानते हैं, कि श्री केशी श्रमण ने गौतम स्वामी से वही प्रश्न किये हैं, जिनके विषय में उन्हें निश्चय न था। भगवान् पार्श्वनाथ ने उन विषयों का स्पष्टीकरण नहीं किया था। महावीर स्वामी ने अपने उपदेश में नई बातें सम्मिलित की हैं। क्या यह सत्य है?

समाधान— यह कल्पना निराधार है। अज्ञात वस्तु को जानने के लिए ही प्रश्न नहीं किये जाते। श्री केशी श्रमण पार्श्व तीर्थ के प्रमुख आचार्य थे, श्रुत के पूर्ण ज्ञाता और अवधि ज्ञानी थे। उन्हें इन प्रश्नों के उत्तर न मालुम हों यह कल्पना भी नही की जा सकती। अतएव उनके प्रश्न करने का आशय कुछ और ही होना चाहिए। प्रश्न पूछने के अनेक आशय हो सकते हैं। जैसे— उत्तरदाता की उत्तर देने की शैली का अध्ययन करने के लिए प्रश्न किये जाते हैं। पृष्टव्य विषय में संदेह न होने पर भी उस विषय में किसी नवीन युक्ति को जानने की अभिलाषा से भी प्रश्न किये जा सकते हैं। सर्वसाधारण को वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने के उद्देश्य से भी प्रश्न किये जाते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी

हो सकते हैं। केशी स्वामी के प्रश्नों से यह कल्पना कर लेना, कि उन्हे इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञात न था, एक हास्यास्पद बात है। आजकल भी-अनेक विद्वान् दूसरे विद्वानो से अनेक प्रश्नों पर वीतराग चर्चा करते हैं। क्या इससे यह परिणाम निकलना संगत होगा, कि पृष्ठव्य विषयों का अब तक निश्चय नहीं है और वे अंधकार मे है? भगवान् महावीर और उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम के अनेक प्रश्नोत्तर आज सूत्रों मे विद्यमान है। अनेक प्रश्न बिलकुल सामान्य है, साधारण व्यक्ति भी उनका समाधान कर सकता है। तो क्या यह समझना बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जा सकता है, कि गौतम स्वामी को सिद्धान्तों का सामान्य भी बोध न था? कदापि नहीं। इस प्रकार निश्चय है, कि श्री केशी स्वामी और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तरों से यह सिद्ध नहीं होता, कि भगवान् महावीर ने जैन धर्म के पार्श्व-काल मे अनिश्चित सिद्धान्तो का निश्चित रूप दिया था।

पार्श्व संघ और वीर-संघ के सामान्य शाब्दिक अतएव काल्पनिक भेद को वृहत् रूप देकर विधर्मी लोग दोनों में मतभेद एवं विरोध की नींव डालना चाहते होगे। दोनों संघो को वास्तविक मतभेद न होने पर भी-उन संघो के सामान्य अनुयायी विरोधियों के बहकावे मे आने लगे होंगे। अतएव दोनों संघों के प्रधान महापुरुषों ने मिलकर और तत्त्वचर्चा करके सर्वसाधारण को बता दिया, कि दोनों मे कुछ भी, वास्तविक मतभेद नहीं है। केशी स्वामी के प्रश्न गौतम स्वामी के उत्तर और फिर उनकी केशी स्वामी द्वारा की हुई अनुमोदना, इन से यही निष्कर्ष निकालना सुसगत प्रतीत होता है। दोनों मे मतभेद होना तो वह गौतम के छोटे से उत्तर से कदापि नहीं मिट सकता था। उस

हालत में लम्बा चौड़ा वादविवाद होता और संभव है, कि फिर भी कहीं न कहीं मतभेद बना रह जाता।

शंका—जिन विषयों पर केशी-गौतम प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन्हीं विषयों को प्रश्नोत्तर के लिए क्यों चुना गया? दूसरे विषयों की चर्चा क्यों नहीं की गई? क्या इससे यह सिद्ध नही होता, कि इन्हीं विषयों में मतभेद था।

समाधान—इस शंका के दो समाधान हैं। प्रथम तो यह, कि जिन विषयों को लेकर विधर्मियों ने मतभेद की निराधार बात उड़ाई होगी उन्ही विषयों पर वार्तालाप करके दोनों संघों को वस्तुस्थिति समझाना आवश्यक समझा गया। अन्य विषयों की चर्चा की आवश्यकता ही न थी। दूसरे यदि इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर प्रश्नोत्तर होते, तो भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों कायम रहता, कि उन्हीं पर चर्चा क्यों, औरों पर क्यों नहीं? इस प्रकार के प्रश्न प्रत्येक के विषय में किये जा सकते है और ये निरर्थक हैं।

इसी प्रकार वेष के विषय में तथा अन्यान्य विषयों में हुए प्रश्नोत्तरों की स्थिति है। वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों ने एक ही धर्म का उपदेश दिया था। उनके उपदेशों में कुछ भी मतभेद न था। मतभेद होता तो पार्श्व-संघ के प्रधान आचार्य अपने संघ के साथ भगवान् महावीर की छत्र-छाया में न आकर अलग ही रहते और अपने धर्म का पहले की ही भांति स्वतन्त्र रूप से उपदेश करते। तीर्थंकरो के उपदेश मे पारस्परिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव जो लोग भ०महावीर को नग्नता का प्रवर्त्तक और भ०पार्श्वनाथ को सवस्त्रता का प्रवर्त्तक मान कर विरोध की कल्पना करते है, वह भी अयुक्त है। जिनशासन में केवल वेष

का कोई मूल्य नहीं है। केशी-गौतम-संवाद में श्री गौतम स्वामी ने स्पष्ट कहा है, कि धर्म का साधन ऐच्छिक है, लोक-प्रत्यय के लिए है, संयम-निर्वाह के लिए है, और साधुत्व का भाव जागृत रखने के लिए है, अत. वह नाना प्रकार का हो सकता है। जिन शासन का वेष सम्बन्धी यह अभिप्राय सदा से है और रहेगा, क्योंकि यहां अन्यलिंगसिद्ध और गृहस्थलिंगसिद्ध आदि सदा से होते आये है।

आशा है पाठक उल्लिखित स्पष्टीकरण से दोनों तीर्थों की एकरूपता को भली भांति समझ सकेंगे और किसी प्रकार के भ्रम मे न पड़ेंगे।

श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्रं ।

किं कर्पूरमयं सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मयं ।
किं लावण्यमयं महामणिमयं कारुण्यकेलिमयं ॥
विश्वानन्दमयं महोदयमयं शोभामयं चिन्मयं ।
शुक्लध्यानमयं वपुर्जिवनपते र्भूयाद्भवालम्बनम् ॥ १ ॥

पातालं कलयन् धरां धवलयन्नाकाशमापूरयन् ।
दिक्चक्रं क्रमयन् सुरासुरनर श्रेणी च विस्मापयन् ॥
ब्रह्माण्ड सुखयन् जलानि जलधे फेनच्छलालोलयन् ॥
श्रीचिन्तामणिपार्श्व सभवयशोहंसश्चिरं राजते ॥ २ ॥

पुण्यानां विपणिस्तमोदिनमणिः कामेभकुम्भे श्रृणि-
र्मोक्षे निस्सरणिः सुरेन्द्रकरिणी ज्योतिः प्रकाशारणिः ॥
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणिः कृपासारिणी ।
विश्वानन्दसुधाघीणर्भवभिदे श्रीपार्श्वचिन्तामणिः ॥ ३ ॥

श्रीचिन्तामणिपार्श्वविश्वजनतासञ्जीवनस्त्वं मया ।
दृष्टस्तात ततः श्रियः समभवन्नाशक्रमाचक्रिणः ॥
मुक्ति क्रीडति हस्तयोर्बहुविध सिद्ध मनोवांछित ।
दुर्दैवं दुरितं च दुर्दिनभय कष्टं प्रणष्ट मम ॥ ४ ॥

यस्य प्रौढतमप्रतापतपन. प्रोद्दामधामा जग-
ज्जह्वाल. कलिकालकेलिदलनो मोहान्धविध्वंसक
नित्योद्योतपद समस्तकमलाकेलिगृह राजते ।
स श्रीपार्श्वजिनो जनेहितकृते चिन्तामणि पातु माम् ॥ ५ ॥

विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोपि कल्पांकुरो ।
दारिद्राणि गजावलीं हरिशिशु काष्ठानि वह्नेः कणः ॥

पीयूषस्य लवोपि रोगनिवहं यद्वत्तथा ते विभो ।
मूर्त्तिः स्फूर्त्तिमती सती त्रिजगतीकष्टानि हर्त्तुं क्षमा ॥ ६ ॥

श्रीचिन्तामणिमन्त्रमोंकृतियुतं ह्रींकारसाराश्रित ।
श्रीमर्हन्नमिऊणपाशकलितं त्रैलोक्यवश्यावहम् ॥

द्वेधाभूतविषापहं विषहरं श्रेय. प्रभावाश्रयं ।
सोल्लासं वसहाङ्कित जिनफुल्लिङ्गा-नन्ददं देहिनाम् ॥ ७ ॥

ह्रीश्रींकारवरं नमोऽक्षरपरं ध्यायन्ति ये योगिनो-
हृत्पद्मे विनिवेश्य पार्श्वमधिपं चिन्तामणिसंज्ञकम् ॥

भाले वामभुजे च नाभिकरयोर्भूयो भुजे दक्षिणे ।
पश्चादष्टदलेषु ते शिवपद द्वित्रैर्भवैर्यान्त्यहो ॥ ८ ॥

नो रोगा नैव शोका न कलहकलना नारिमारिप्रचारा-
नैवाधिर्नासमाधिर्नंच दरदुरिते दुष्टदारिद्रता नो ॥

नो शाकिन्यो ग्रहा नो न हरिकरिगणा व्यालवैतालजाला-
जायन्ते पार्श्वचिन्तामणिनतिवशतः प्राणिनां भक्तिभाजाम् ॥ ९ ॥

गीर्वाणद्रुमधेनुकुम्भमणयस्तस्याङ्गणे रङ्गिणो-
देवा दानवमानवाः सविनयं तस्मै हितध्यायिनः ॥

लक्ष्मीस्तस्य वशा वशेव गुणिनां ब्रह्माण्डसंस्थायिनी ।
श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथमनिशं संस्तौति यो ध्यायते ॥१०॥

इति जिनपतिपार्श्वः पार्श्वपार्श्वाख्ययक्षः
प्रदलितदुरितौघः प्रीणितप्राणिसार्थः ।
त्रिभुवनजनवाञ्छादानचिन्तामणिकः ।
शिवपदतरुबीजं बोधिबीजं ददातु ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीचिन्तामणि स्तोत्रं सम्पूर्णं ॥

पुस्तक मिलने का पता—

श्रीमती गंगादेवी जैन,

फर्म गुलाबसिंह कोकनमल जैन, जौहरी,

मालीवाड़ा, देहली।